मूल्यांकन

[भारतेन्दु, 'हरिऔध' और आ०म०प्र० द्विवेदी का अध्ययन]

: लेखक :

प्रो० कपिलदेव सिंह
हिन्दी-विभाग, बी० एन० कॉलेज
पटना

: प्रकाशक :

श्री अजन्ता प्रेस लिमिटेड
नया टोला : पटना-४

मूल्य : ३) तीन रुपये

भूमिका

प्राध्यापक श्री कपिलदेव सिंह के समीक्षात्मक निकष पर अंकित 'मूल्यांकन' का मैं हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ। आधुनिक हिन्दी-साहित्य के प्रधान सूत्रों के परिचयार्थ ऐसे समीक्षात्मक अध्ययनों की उपादेयता असन्दिग्ध है। 'मूल्यांकन (१)' में 'भारतेन्दु', हरिऔध और आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की साहित्य-साधनाओं के आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किए गए हैं। इसी शृंखला को आगे बढ़ाकर प्रो० सिंह ने 'मूल्यांकन (२)' में सर्वश्री प्रेमचन्द, मैथिली शरण गुप्त और जयशंकर 'प्रसाद' की साहित्यसाधनाओं के समीक्षात्मक परिचय उपस्थित किए हैं। 'मूल्यांकन (२)' के परिचय में डा० धीरेन्द्र वर्मा ने लिखा है—'आधुनिक साहित्य की तीन प्रधान धाराओं—उपन्यास, कविता और नाटक के संबंध में प्रचुर आलोचनात्मक सामग्री, प्रधानतया पश्चिमी सिद्धान्तों की कसौटी पर कसकर, रक्खी गई है।' 'मूल्यांकन (१)' के संबंध में भी डा० वर्मा के उक्त अभिमत से असहमत होने का कोई कारण उपस्थित नहीं है। अन्तर केवल इतना ही है कि 'मूल्यांकन (२)' में जहाँ 'उपन्यास, कविता और नाटक के संबंध में प्रचुर आलोचनात्मक सामग्री रक्खी गई है' वहां 'मूल्यांकन (१)' में नाटक और कविता के साथ उपन्यास का नहीं बल्कि गद्यशैली अथवा निबन्ध-शैली का परिचय प्रस्तुत किया गया है। अस्तु।

डा० वर्मा ने 'मूल्यांकन' को विश्वविद्यालयोपयोगी साहित्यिक

आलोचना की श्रेणी में रक्खा है। यह पटना-विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत भी है। परन्तु मेरी विनम्र सम्मति में, 'मूल्यांकन' समस्त साहित्यिक अध्येताओं के लिए उपयोगी है। यह केवल 'वटुक-तोषी' नहीं बल्कि 'साहित्य-पोषी' भी है। यों तो समीक्षा-साहित्य में कोई अन्तिम शब्द होता ही नहीं, तथापि हिन्दी का समीक्षासाहित्य बहुलांश में अपर्याप्त है। उसमें भारतीय साहित्यशास्त्र को भी सांगोपांग हृदयंगम एवं प्रयुक्त नहीं किया गया है, पश्चिमी सिद्धान्तों अथवा पाश्चत्य साहित्यशास्त्र की क्या चर्चा? साहित्यालोचन कोई स्थिर नहीं बल्कि विकासशील और गत्यात्मक शास्त्र है। जिस प्रकार भरतमुनि से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ पर्यन्त भारतीय साहित्यशास्त्र निरन्तर गतिशील रहा है, उसी प्रकार अरस्तू से लेकर काडवेल, इलियट और सार्त्र तक पाश्चात्य साहित्यशास्त्र भी गतिशील ही रहा है। इस प्रवाहशील परम्परा में से कुछ सूत्र ही पकड़ में आते हैं, जो साहित्यालोचन में भुक्त एवं प्रयुक्त होते हैं। इस प्रकार साहित्यशास्त्र परम्पराभुक्त होता हुआ क्रान्तिगामी और विकासोन्मुख होता रहता है। प्रो० सिंह ने पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के जो नवीन सूत्र ग्रहण किए हैं और आधुनिक हिन्दी-साहित्य के मूल्यांकन में उनका जो प्रयोग किया है, उससे हिन्दी-साहित्य के अध्येताओं का उपकृत होना असन्दिग्ध है।

प्रो० सिंह के प्रयास को मात्र इतना ही बताना न्यायसंगत नहीं होगा। उन्होंने हिन्दी-समीक्षकों के अभिमतों का भी पर्याप्त आकलन किया है। मिश्रबन्धु, डा० श्यामसुन्दर दास, आचार्य शुक्ल से लेकर डा० रामविलास शर्मा पर्यन्त शायद ही कोई हिन्दी समीक्षक हो, जिसके अभिमत का प्रासंगिक उल्लेख प्रो० सिंह ने नहीं किया है। इस प्रकार 'मूल्यांकन' में आधुनिक हिन्दी-साहित्य के प्रमुख स्रोतों अथवा सूत्रों का परिचय एकांगी नहीं बल्कि अनेकांगी है, और आकारगत सीमाओं के बावजूद, यत्किंचित् नहीं बल्कि आकुंचित है।

'मूल्यांकन' के दोनों भागों में १८७० अथवा १८७५ ई० से आरम्भ कर प्राय: ५० वर्षों के हिन्दी-साहित्य के प्राणतत्त्वों का विवेचन हुआ है। अधुनिक हिन्दी-साहित्य के लिए यह गौरव का विषय है कि इतनी छोटी अवधि में ही उसकी इतनी तीव्र प्रगति हुई है जिसने नाटक, कविता और गद्यशैली के एक-एक ही नहीं बल्कि दो-दो प्रमुख स्तम्भ खड़े किए हैं। इस अवधि के नाटक-साहित्य में भारतेन्दु और 'प्रसाद' दो भिन्न स्तम्भ हैं और दोनों की साधनाएँ ऐतिहासिक महत्त्व रखती हैं। इसी प्रकार कविता में गुप्त तथा 'हरिऔध' में से और गद्यशैली में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी तथा प्रेमचन्द में से किसी को छोड़कर आधुनिक हिन्दी-साहित्य का परिचय देना सम्भव नहीं है। आधुनिक हिन्दी-साहित्य के प्रतिनिधि व्यक्तित्वों के चुनाव में लेखक ने समीचीन दृष्टिबिन्दु का परिचय दिया है।

'भारतेन्दु की प्रतिभा' के विवेचन में लेखक ने उनके नाटक-साहित्य के साथ-साथ उनकी काव्यसाधना की भी अवहेलना नहीं की है बल्कि काव्यसाधना के विवेचन को ही प्रधानता दी है। इसे अनुपयुक्त नहीं कहा जा सकता। 'भारतेन्दु' जहाँ हिन्दी-नाटकसाहित्य के प्रवर्तक हैं वहाँ वे नवीन हिन्दी-कविता के भी क्रान्तिकारी अग्रदूत हैं। उनकी यह क्रान्ति तात्त्विक है। उन्होंने प्रमुखत: कविता के ही माध्यम से युगधर्म को ध्वनित किया, नवीन मानव-मूल्यों का निरूपण किया और सामाजिक तथा राष्ट्रिय जीवन की आधारशिला पर काव्य का संस्थापन किया। प्रधानत: उनकी काव्यधारा में ही सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक क्रान्तियों की त्रिवेणी फूट निकली। और उनकी इस लोकोन्मुखी तात्त्विक क्रान्ति के कारण ही राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने उन्हें 'द्वितीय तुलसीदास' घोषित कर श्रद्धांजलि अर्पित की थी। परन्तु, मेरा विनम्र मत है कि लेखक को भारतेन्दु के नाटक-साहित्य का भी अपेक्षाकृत विस्तृततर विवेचन करना चाहिए था। इसके अतिरिक्त

उनके निबन्ध-साहित्य का भी संक्षिप्त विवेचन समीचीन होता। उनकी उन फुटकर रचनाओं की भी चर्चा अभीष्ट होनी चाहिए थी जिनमें उनका क्रान्तिकारी वाङ्मय केवल 'बिखरा' नहीं बल्कि 'निखरा' भी है।

कदाचित् लेखक को 'मूल्यांकन' के प्रत्येक भाग में तीन तीन साहित्यविधाताओं के विवेचन द्वारा सांख्य (संख्यागत) समत्व अथवा सामंजस्य के निर्वाह का मोह हो गया। अन्यथा 'मूल्यांकन' के प्रथम भाग में भारतेन्दु-साहित्य के विवेचन को दो तिहाई स्थान और आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की साहित्यसाधना के समीक्षण को एक तिहाई स्थान देना अधिक समीचीन होता। इसी प्रकार यदि 'मूल्यांकन' के द्वितीय भाग तक ६ के बदले ७ निबन्धोंकी संख्या पूरी होती और दोनों भागों में कुल मिलाकर आधुनिक हिन्दी-साहित्य के 'षट् आनन' ही नहीं, बल्कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को लेकर, 'सप्तर्षि' का परिचय प्रस्तुत किया जाता तो कदाचित् वह आधुनिक हिन्दी-साहित्य का अथवा उसके प्रारम्भिक ५० वर्षों की साधना का पूर्णतर परिचय होता। समीक्षाशास्त्र भी बड़ी तीव्र गति से प्रगति कर रहा है और रचनात्मक साहित्य का अनिवार्य अंग बनता जा रहा है। 'मूल्यांकन' में साहित्य के इस अंग के आवधिक प्रतिनिधि अथवा प्रमुख स्तंभ आचार्य शुक्लजी की समीक्षासाधना के परिचय का अभाव बरबस अनुभूत होता है।

परन्तु, 'मूल्यांकन' सर्वांगीण पूर्णता का महत्त्वाकांक्षापूर्ण दावा लेकर नहीं उपस्थित हुआ है और न ऐसी पूर्णता सहज संभव ही होती है। फिर भी 'मूल्यांकन' का प्रयास बहुत दूर तक सफल है और कदाचित् आधुनिक हिन्दी-साहित्य की प्रारंभिक अर्द्ध-शताब्दी के अध्ययन का एकमात्र संतुलित एवं समीकृत प्रयास है। और है अन्य समीक्षकों की संगति का समन्वित प्रयास, सर्वथा ऐकान्तिक प्रयास नहीं। दूसरे

शब्दों में, इसे 'अनेकान्त प्रयास' कह सकते हैं। ऐसे प्रयासों में यही प्रणाली वांछनीय होती है। मैथ्यू आर्नल्ड के शब्दों में इसे हम समीक्षोचित 'अनासक्त प्रयास' भी कह सकते हैं, क्योंकि लेखक ने आसक्ति की ग्रन्थियों से बचने का सफल प्रयत्न किया है। बहुत दूर तक वे पक्षपातमुक्त हैं, यों सम्पूर्ण निष्पक्षता का दावा मनोविज्ञान को स्वीकार ही नहीं है।

प्रो० सिंह की इस अनासक्ति का कारण यह है कि वे 'काव्येषु भ्रष्टः' समालोचक नहीं हैं, बल्कि हैं विशुद्ध अध्येता। वे कोलरिज के 'असफल साहित्यकार समीक्षक' नहीं हैं बल्कि अनातोले फ्रांस के 'साहित्य में आत्मिक साधनारत समीक्षक' प्रतीत होते हैं। हम प्रो० सिंह को बधाई देते हैं कि उनकी यह पुस्तक आधुनिक हिन्दी-साहित्य की प्रारंभिक अर्द्धशताब्दी के अध्ययनार्थ बहुत दूर तक 'सहायिका' है। 'समापिका' होने का दावा ऐसी पुस्तकों को करना भी नहीं चाहिए। हम आशान्वित हैं कि अध्येता इस पुस्तक की सहायता से अपने अध्ययन की शृंखला को आगे बढ़ाने में सफल होंगे।

कदमकुआँ
पटना

रामदयाल पाण्डेय
शुद्ध भाद्र पूर्णिमा, २०१२ वि०

क्रम

भारतेन्दु की प्रतिभा

"साहित्यिकों में बड़प्पन होना चाहिए। मैं देखता हूँ कि उनमें या तो यह नहीं है, या आवश्यकता से अधिक है। सनुचित संतुलन की अनिवार्यता स्वीकार की जाय और हम अपने को अंतर के दर्पण में देखें और दूसरों का मूल्यांकन करने के पूर्व स्वयं अपना ठीक भाव निर्धारित कर लें; तभी यह सम्भव हो सकता है कि हमारे आदर्शों की स्थापना आप कर सकेंगे।"

—डॉ० श्यामसुन्दर दास

आज से कई वर्ष पूर्व हमारे नगर में एक धनीमानी सज्जन के सभापतित्व में भारतेन्दु-जयन्ती मनायी गयी। आगन्तुक विद्वानों के भाषण के उपरान्त सभापतिजी ने कहा कि हम जिस हरिश्चन्द्र की जयन्ती आज मना रहे हैं, वह बड़ा ही सत्यवादी था, उसने सत्य की रक्षा के लिए अपनी पत्नी तथा पुत्र को भी दान में दे दिया। अतः उसपर हिन्दू-जाति सदैव गर्व करती रहेगी। निकट के एक सभ्य ने उनसे धीरे से कहा कि यह हरिश्चन्द्र और हैं; वे साहित्यिक थे और आप राजा हरिश्चन्द्र की चर्चा कर रहे हैं। लेकिन सभापतिजी ने बिगड़ कर कहा कि वे केवल एक ही हरिश्चन्द्र को जानते हैं और वह वही है जिसका कि उन्होंने अभी-अभी उल्लेख किया है। इतना कहकर आपने एक दोहा पढ़ा, जो निम्नलिखित है :—

चन्द्र टरै सूरज टरै, टरै जगत व्यवहार।
पै दृढ़ श्री हरिश्चन्द्र के, टरै न सत्य विचार॥]

विस्मय की बात यह थी कि वे दुराग्रह एवं कूप मंडूकत्व प्रदर्शित करते हुए भी उसी मनीषी का दोहा पढ़ रहे थे, जिसके विषय में अपनी अनभिज्ञता प्रकट कर चुके थे। इस छोटे-से प्रसंग से यह ज्ञात होता है कि भारतेन्दुजी की कृतियाँ कितनी लोक-प्रिय हैं एवं वे किस प्रकार ब्रह्मा के समान अपनी रचनाओं में छिपे हुए हैं। साथ ही कवि की यह उक्ति भी सत्य है :—

"श्रूयंते ये हरिश्चन्द्रे जगदाह्लादिनो श्रय :।
दृश्यंते ते हरिचन्द्रे चन्द्रवत् प्रिय दर्शने॥"]

बाबू श्यामसुन्दर दास ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के 'विषस्य विषमौषधम्' शीर्षक भाण की आलोचना करते हुए लिखा है—"जो महात्मा देश के लिए अपना सर्वस्व निछावर करने को सदा उद्यत रहे, जिसको बात-बात में अपने देश का स्मरण हो आवे, और जो उसके उदय के संबंध में अपने स्वतंत्र विचारों को प्रकट करने में कभी आगा-पीछा न करे, वही एक राजा के गद्दी से उतारे जाने पर आनन्द मनावे और भाण लिख कर प्रशस्ति में "अँगरेजन को राज ईस इत थिर करि थापै" तक कह डाले। इस भाण में भारतेन्दुजी अपने असली रूप में नहीं देख पड़ते। उनके स्वभाव में, उनकी रुचि में, उनके देशाभिमान में, उनकी देशहितैषिता में बहुत बड़ा परिवर्तन देख पड़ता है। फिर जिसका चरित्र स्वयं आदर्शरूप न हो, वह दूसरे की चरित्र-हीनता के लिए दंडित होने पर बधावे बजवावे—यह यदि विचित्र बात नहीं तो आश्चर्यजनक अवश्य है।" * हम देखते हैं कि जहाँ कवि ने निम्नांकित कविताओं में एक ओर देश-प्रेम का पूरा परिचय दिया था :—

"भारत किरिन जगत उँजियारा। भारत जीव जियत संसारा॥
भारत भुज बल लहि जग रच्छित। भारत विद्या सो जग सिच्छित॥"

* * * *

"धन धन भारत के सब छत्री जिनको सुजस-धुजा फहराया।
मारि मारि के सत्रु दिए हैं लाखन बेर भगाय॥
महानंद की फौज सुनत ही डरे सिकन्दर राय।
राजा चन्द्रगुप्त ले आए बेटी सिल्युकस को जाय॥"

× × ×

"बृटिश-सिंह के बदन कराला। लिख न सकत भयभीत भुआला॥"

मिथ्या नहिं कछु याके माहीं : राजभक्त भारत सम नाहीं ॥

इस "विचित्र बात" :और "आश्चर्यजनक" विरोध का परिहार आदरणीय प्रो० डॉ० विश्वनाथ प्रसाद ने "साहित्यिक निबन्धावली" में निम्न प्रकार से किया है:--

"भारतेन्दु की कला की सबसे बड़ी विशेषता है उसका भावपक्ष के साथ अपूर्व सामंजस्य। भावपक्ष और कला-पक्ष का ऐसा सुन्दर सामंजस्य हमें सूर, तुलसी आदि भक्त कवियों और देव, रसखान, आनन्दघन आदि जैसे दो-चार इने-गिने रीतिकालीन कवियों को छोड़कर हिन्दी-साहित्य में अन्यत्र नहीं मिलता। इस एक बात को नहीं समझने के कारण उनके सम्बन्ध में बहुत-सी भ्रांतियाँ पैदा हो जाती हैं। उदाहरणार्थ उनके राष्ट्रीय काव्य को ही ले लें।...........और वह भावपक्ष भी केवल परम्परागत विचारों या साहित्यिक रूढ़ियों की देन नहीं था वरन् जीवन की सच्ची अनुभूतियों पर आश्रित था, भारतेन्दु व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की जिन परिस्थितियों से होकर गुजरते थे, उन्हीं के उपकरणों से उनकी उर्वर भावुकता का निर्माण होता था। उनकी कला की मूल भित्ति थी उनकीवही जीवन-व्यापिनी-भावुकता। यह बात उनकी भक्ति, शृंगार तथा

* भारतेन्दु नाटकावली—पृष्ठ–६५–६६।

+ भारतेन्दु-ग्रन्थावली--

"बजे ब्रिटिश डंका सघन, गह-गह शब्द अपार।
जय रानी विक्टोरिया, जय जुवराज-कुमार ॥
रूम-रूस उर सूल दियो, ईरान दबायो।
ब्रिटिश सिंह को अटल तेज करि प्रगट दिखायो ॥"

राष्ट्रीय काव्य सबके सम्बन्ध में समान रूप से सत्य है......
............इस विरोध को देखकर कुछ लोग भ्रम में पड़ जाते हैं। बात यह है कि भारतेन्दु-साहित्य का निर्माण उस काल में हुआ जब कि विदेशी शक्ति के विरुद्ध, उस विद्रोह के बाद, जिसे अंग्रेज ऐतिहासिकों ने सिपाही-विद्रोह मात्र कहा है, देश में सर्वत्र निराशा, उत्साहहीनता और हाहाकार मचा हुआ था। सिपाही विद्रोह का तो अंग्रेजों ने अपनी आधुनिक शक्ति से दमन कर दिया था। उस दुर्दिन में असहाय और परास्त जनता अंग्रेजी राज्य का मुँह ताकने के सिवा और क्या कर सकती थी? भारतेन्दु की राजभक्ति की रचनाओं में हम वास्तव में तत्कालीन विवशतापूर्ण स्थिति की ही दयनीय भावना पाते हैं।" —
(पृ० ८३-८४।)

"इस सम्बन्ध में इस बात की भी चर्चा कर देना अप्रासंगिक नहीं होगा कि इस क्षेत्र में भारतेन्दु की कला बहुत कुछ अंशों में निराशावादी है। "भारत दुर्दशा" और "नील-देवी" में जो विषादान्त दृश्यों की उन्होंने योजना की है, वह उनकी इसी मनोवृत्ति का सूचक है। वास्तव में सिपाही-विद्रोह के गहरे आघात और पतन के बाद देश में जो एक निराशापूर्ण हाहाकार व्याप्त हो गया था, भारतेन्दु की वाणी में हम उसी का स्वर और आर्त्तनाद सुनते हैं। इस स्थिति में भारतेन्दु ने यदि आशा का संचार किया भी है तो भारत के प्राचीन गौरवशाली इतिहास की ओर संकेत करके ही।
......ये भाव कवि के सच्चे हृदय के उद्‌गार थे। यह सचाई और सफाई भारतेन्दु की कला की सबसे बड़ी शक्ति है। उन्होंने एक शब्द भी ऐसा नहीं कहा है जो उनके सच्चे हृदय

से छनकर नहीं निकला हो। और इन सच्चे भावों को उन्होंने ऐसी सादगी के साथ पेश किया है कि वह सादगी स्वयं उनका सबसे बड़ा गुण बन गई है। अतः इस सम्बन्ध में स्वर्गीय श्री श्यामसुन्दर दास जी का यह कथन मेरी समझ में असंगत प्रतीत होता है कि "उनका देशानुराग जाति-प्रेम आदि बाह्य परिस्थितियों के फलस्वरूप थे।......बाधा पड़ेगी।"
(—पृष्ठ—८८।)

पर डॉ० रामविलास शर्मा ने अपनी "भारतेन्दु-युग" शीर्षक पुस्तक में इसका कारण कुछ और ही बतलाया है:— "सन् १८५७ के विद्रोह के बाद जब भारत का राज्य कम्पनी बहादुर के हाथ से महारानी विक्टोरिया के हाथ में आ गया तो बहुत लोग समझे कि उस शासन-परम्परा का—जिसे जॉन ब्राइट ने "ए हंड्रेड थीयर्स ऑव क्राइम" कहा था—अब अन्त हो गया। महारानी के लिए जो घोषणा-पत्र पहले तैयार किया गया था, उसे उन्होंने अस्वीकार कर दिया और उससे अधिक सहृदयतापूर्ण घोषणा-पत्र तैयार कराया। उसमें भारत-वासियों को मधुर-मधुर आश्वासन दिये गये और डलहौजी आदि की नीति को देखते हुए उस समय लोगों को ये आश्वासन और भी मधुर लगे होंगे, इसमें सन्देह नहीं। विद्रोह के पहले अंग्रेज जिस प्रकार छोटे-छोटे राज्य हड़प चुके थे और विद्रोह में उसके पश्चात् उन्होंने अपना जो अप्रिय रूप दिखाया था, उसकी याद कर लोगों ने उन सब बातों से इन आश्वासनों की तुलना की और उनका हृदय गद्गद् हो गया। कवियों के कण्ठ से प्रशस्तियाँ फूट पड़ीं और प्रजा ने अपने आप को महारानी विक्टोरिया की अधीनता में समझकर सुख की साँस ली और अपना भाग्य सराहा। प्रजा के बहुत से

शुभचिंतकों ने सोचा कि बस प्रार्थना-पत्र भेजने की देर है। सुनवाई हुई नहीं कि सभी क्लेश मिट गये। भारतेंदु-युग का बहुत-सा साहित्य राजभक्ति के भावों से पूर्ण है; उसका यही रहस्य है। विद्रोह से पहले के कम्पनी राज्य की तुलना में लोगों ने महारानी विक्टोरिया के शासन को एक भिन्न वस्तु माना और वे समझे कि उन्हें सभी प्रकार की स्वतंत्रता इस शासन में सुलभ है। बहुत-से लोग इस आनन्द में मगन होकर प्राचीन आर्य वीरता के गीत गुन-गुनाने लगे। परन्तु यह शंका बहुत काल तक न रही; शीघ्र ही अकाल, महामारी, टैक्स, बेकारी आदि साम्राज्यवाद की विभूतियों ने उन्हें जगा दिया।...............भारतेन्दु-युग के साहित्य में यह जागरण भलीभाँति व्यक्त हुआ है।"

(पृष्ठ—२१)

"भारतेन्दु-युग में एक ओर मध्यकालीन दरबारी संस्कृति थी तो दूसरी ओर जनता में एक सामाजिक और राजनीतिक आंदोलन के लिए वातावरण तैयार करना था। साहित्य में देश के बढ़ते असंतोष को प्रकट करना भर न था; सदियों से चले आते, समाज की हड्डियों में बसे हुए कुसंस्कारों से भी मोर्चा लेना था। यह दूसरा काम और कठिन था। (पृष्ठ–६१)

दरबारी संस्कृति के साथ राजभक्ति का घनिष्ठ संबंध था। वास्तव में जितनी राजभक्ति दरबारी नरेशों में थी, उतनी साधारण प्रजा में न थी। विद्रोह में उन्होंने स्वर्णाक्षरों में लिखा जाने वाला काम किया था; कैनिंग के अनुसार बिना उनकी सहायता के विद्रोह के प्रलय में ब्रिटिश साम्राज्य बह जाता।

भारतेन्दु दरबारी संस्कृति में पाले-पोसे जाने के साथ राज-भक्ति में भी दीक्षित किये गये थे। उनके दरबार में समस्या-पूर्ति होती थी—"पूरी अमी की कटोरिया-सी चिरजीवो सदा विक्टोरिया रानी।" रीतिकाल, दरबारी संस्कृति, राजभक्ति उस समय की सभी प्रतिक्रियात्मक धाराओं का संकेत इस एक पंक्ति में मिलता है। राजभक्ति से ओतप्रोत कविताएँ उस युग में अनेक रची गयीं परन्तु उनमें भी राजभक्ति के साथ देश-दशा की झलक दिखायी देती है।..........वास्तव में अनेक रचनाओं में तो ऐसा लगता है कि जनता में नव चेतना फैलाने के लिए ही राजभक्ति की आड़ ली गयी थी।........उनकी राजभक्ति का निरावरण रूप ऐसा ही था।" (पृष्ठ—१४-१५).

तथा श्री रामरतन भटनागर ने अपने ग्रंथ "भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : एक अध्ययन" में इसपर सर्वथा भिन्न रूप से प्रकाश डाला है—

"हम देखते हैं कि इतने पर भी भारतेन्दु ने गवर्नमेण्ट (सरकार) का सक्रिय विरोध नहीं किया। वह अंग्रेजी राज्य के 'चिर थापहु' (चिर स्थापन) के लिए कल्याण-कामना करते दिखलायी पड़ते हैं और उनकी कितनी ही सामयिक कविताओं में देशभक्ति ने राजभक्ति का रूप ग्रहण कर लिया है। वास्तव में भारतेंदु 'लिबरल' थे, जैसा पं० बदरीनारायण 'प्रेमघन' ने तृतीय हिंदी सा० स० के भाषण में कहा है। वे एक साथ ही राजा और प्रजा के पक्षपाती थे। राजा के इसलिए कि परिस्थिति इस प्रकार की थी कि स्वतंत्र देशी राज्य अंग्रेजी शासकों से भी अधिक निरंकुश होकर जनता का हनन करते थे। 'विषस्य विषमौषधम्' (नाटक) के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि भारतेन्दु ने विदेशी

राज्य को अनिवार्य परिस्थिति में विष समझ कर ही उपयोगी माना था। सच तो यह है कि वह सदा प्रजापक्षी ही अधिक रहे। और कदाचित् अंतिम समय तो उनका दृष्टिकोण एक-दम क्रांतिकारी हो गया था।"

अतएव "मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना" के अनुसार भारतेन्दु की विरोधात्मक अनुभूति-समन्वित रचनाओं को अनेक समीक्षकों ने अनेक दृष्टियों से देखा है। मेरे विचार में आलोचना के अवसर पर सबों ने अपने-अपने अनोखे भावों तथा प्रभावों का ही यथासम्भव आरोपण उनकी कला-कृतियों में किया है, जिससे उनका ठीक-ठीक मूल्यांकन होना कठिन हो गया है। मिड्लटन मरे जिस प्रकार किसी लेखक की रचना को उसके व्यक्तिगत जीवन के अनुभव से उत्प्रेरित मानता है उसी प्रकार—जहाँ तक एक कदम आगे ही—बाबू साहब भारतेन्दु की रचनाओं को उसके दैनिक जीवन की आपबीती घटनाओं एवं राग द्वेषों से पूर्णतया आच्छादित मानते हैं। उन्हीं के शब्दों में —"अब हमें यह देखना है कि वे कौन-सी घटनाएँ थीं या हो सकती हैं जिनके वशवर्ती होकर उनके हृदय से इस प्रकार के उद्‌गार निकले।.........ये वाक्य उनके आंतरिक भावों के सूचक हैं और बिना किसी विशेष घटना के घटित हुए हृदय से ऐसे उद्‌गार निकल ही नहीं सकते। क्या यह भी सम्भव नहीं है कि गवर्नमेण्ट को शान्त करने के लिए जैसे उन्होंने 'कविवचन-सुधा' से संबंध छोड़ा, वैसे ही उसी उद्देश्य से 'विषस्य विषमौषधम्' भी लिखकर अंत में प्रशस्ति-वाक्य में यह कह डाला "अँगरेजन को राज ईस इत थिर करि थापै ?" पर यह आनंद और संतोष की बात है कि उनकी यह मानसिक स्थिति, ये आत्मग्लानि

और आत्मक्षोभ के भाव बहुत दिनों तक नहीं टिक सके।"
('भारतेन्दु-नाटकावली'—पृष्ठ—७४—७८।)

लेकिन हमें यह देखना है कि क्या देशभक्ति और राज-भक्ति के व्याघातमक उद्‌गारों का उद्भव भारतेन्दु की रचनाओं में उनको जीवनव्यापी अनुभवों के बल पर हुआ या केवल बाह्य परिस्थितियों के फलस्वरूप? श्रद्धेय डॉ० विश्वनाथ प्रसाद ने अपने निबंध में इलियट के समान यह बतलाने की चेष्टा की है कि महान् कवि जीवन के व्यक्तिगत राग-द्वेषों के प्रति तटस्थ रहता है, इसी से उसकी कविताएँ दैनिक जीवन की क्षुद्र वासनाओं के स्पर्श से अछूती रहती हैं। ऐसे ही कवियों की कविताओं में भावपक्ष और • कलापक्ष का सामंजस्य पाया जाता है और इसी में कवि की निष्ठा की सरल एवं सच्ची झलक मिलती है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की कला में चूँकि ये गुण विद्यमान हैं, उसीसे उनमें विरोध कैसा? यह विरोध तो एक प्रकार का भ्रम है।

किन्तु डा० रामविलास शर्मा, जिनपर काडवेल का गहरा प्रभाव पड़ा है, भारतेन्दु-काव्य के उपर्युक्त तथाकथित विरोध का उल्लेख करते हुए उसे जागरण, नवचेतना तथा विचित्र कोलाहल कहते हैं। उनके अनुसार "भारतेन्दु-युग को हिन्दी का शैशव-काल कह कर हम नहीं टाल सकते: उसकी जिन्दा-दिली की थोड़ी-सी प्रशंसा करने से उसका मूल्य नहीं आँका जा सकता। सब भाइयों को बुलाकर भारत के लिए रोने के सिवा भी उस युग में बहुत कुछ है। वास्तव में ऐसा सजीव और चेतन युग हिन्दी में यह एक ही बार आया है।"

ऊपर लिखी हुई पंक्तियों के प्रकाश में हम प्रो० विश्वनाथ

प्रसाद के विचारों का खण्डन होते हुए पाते हैं। इसका एक मात्र कारण दोनों आलोचकों का दृष्टिभेद है।

श्री रामरतन भटनागर ने मध्य का मार्ग ग्रहण किया है। आपने भारतेन्दु को न तो व्यक्तिवादी माना है और न साम्यवादी। आप उन्हें उदारवादी मानते हैं और उनकी देन को गोष्ठीसाहित्य कहते हैं। आगे चलकर इसी से आप उन्हें समन्वयवादी भी सिद्ध करते हैं। आपने लिखा है:—"एक समय था जब भारतेन्दु पूर्णतया राजभक्त थे और उनकी देशभक्ति, राजभक्ति का ही दूसरा नाम थी। परन्तु जब "कविवचन-सुधा" के "पंच" ने उन्हें सुझा दिया कि वे राजभक्त हुए बिना अनेक समाजोपयोगी काम नहीं कर सकते,तब उनको यह अच्छी तरह प्रकट हो गया कि राजभक्ति और देश-भक्ति के स्रोत अलग-अलग हैं। परन्तु, अंतिम समय तक ही वह इस विरोध का भली-भाँति अनुभव कर पाये थे।" कहने की आवश्यकता नहीं कि आपपर ग्रियर्सन की समीक्षा-पद्धति की पूरी छाप पड़ी है क्योंकि आपने भारतेन्दु संबंधी अन्त: एवं बाह्य सामग्रियों का पर्याप्त संकलन एवं विधिवत् वर्गीकरण किया है।

वादों के दल-दल में फँसने की अपेक्षा हमें भारतेन्दु की चमकीली प्रतिभा से पूर्णतया परिचित हो लेना चाहिए। भारतेन्दु की प्रतिभा सर्वतोमुखी है। उनकी कर्मण्यता उन्हें साधारण जनों के स्तर से ऊँचा उठा देती है। इसी से हम उनकी आलोचना सामान्य मान्यताओं के आधार पर नहीं कर सकते। प्रत्येक प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति के आचार और विचार में आश्चर्यजनक क्रान्तिकारी परिवर्तन होता रहता

है, जिसे युग और जनता नहीं पहचान सकती, क्योंकि वहाँ तक उनकी पहुँच नहीं। उनके जीवन सम्बन्धी सिद्धान्तों में विरोध नहीं वरन् विरोधाभास रहा करता है, इसे जान लेना अत्यन्त आवश्यक है। डॉ० विश्वनाथ प्रसाद के निबंन्ध में यह संकेत वर्त्तमान है। अतएव हम यह देखना चाहेंगे कि क्या वास्तव में भारतेन्दु के राजभक्ति एवं देशभक्ति विषयक आधारों में विरोध है या सिर्फ विरोधाभास ही है। सच तो यह है कि जहाँ देशभक्ति-सम्बन्धी कविताओं में उनका हृदय बोल रहा है, वहाँ राजभक्ति सम्बन्धी कविताओं में उनका मस्तिष्क काम कर रहा है। देशभक्ति की कविताएँ उनके हृदय-प्रदेश से निसृत हुई हैं: राजभक्ति की कविताएँ कदापि नहीं। देखिये :—

"काशी प्रयाग अयोध्या नगरी। दीन रूप सम ठाढ़ी सगरी॥
हाय पंचनद, हा पानीपत। अजहुँ रहे तुम धरनि विराजत॥
हाय चितौर निलज तू भारी। अजहुँ खरे भारत ही गंभारी॥
जा दिन तुव अधिकार नसायो। सो दिन क्यों नाहि धरनि समायो॥

× × ×

"सीखत कोउ न कला, उदर भरि जीवत केवल।
पशु समान सब अन्न खात पीअत गंगा जल॥
धन विदेस चलि जात तऊ जिय होत न चंचल।
जड़ समान ह्वै रहत अकिल हत रचि न सकत कल॥
जीवत विदेश की वस्तु लै, ता बिनु कछु नहीं करि सकत।
जागो-जागो नन्द साँवरे, सब कोऊ रुख तुमरो तकत॥

उपर्युक्त कविताओं में हम उनकी जीवनव्यापी अनुभूति की मार्मिक झलक पाते हैं, किन्तु निम्नलिखित कविताओं

की रचना महज खिलवाड़ के लिए तमाशा खड़ा करने को तथा मनोरंजनार्थ हुई है—

G वहु Es अ C स बल, हरहु प्रबन की P र।
सर U जमुना गंग में जब लौं थिर जग नीर ॥
था थिर करि राजा-गन अपने-अपने ठौर।
तासों तुम हिं भई महरानी जग और ॥
करि वि ४ देख्यो बहुत जग बिनु रस न १।
तुम बिनु हैं विक्टोरिये नित ६०० पथ टेक ॥

× × ×

प्रबल प्रताप भारतेश्वरी तिहारें कोप
ज्वाल काल आगे रोम मोम रूस फूस हैं

× × ×

रूस रूस सब के हिये भय अति ही हो जौन।
बधू! तुम्हारे ब्याह सों उड़्यो फूस सो तौन ॥

महान् कवियों की एक परम्परा-सी रही है कि वे गंभीर रचनाओं के उपरांत शब्द-क्रीड़ादि में व्यस्त होकर स्वयं अपना तथा पाठकों का किंचित् मनोरंजन करना चाहते हैं। सूरदास की इस मनोवृत्ति का परिचय उनके दृश्यकूटक पदों में मिलता है। तुलसीदास चित्र-काव्य की सृष्टि करके अपनी उपर्युक्त रुचि का आभास देते हैं। रवीन्द्रनाथ अवकाश में टेढ़ी-तिरछी रेखाओं से परिपूर्ण चित्र बनाया करते थे। ठीक उसी प्रकार हरिश्चन्द्र ने भी राजभक्ति सम्बन्धी कविताओं में अपनी उसी हलकी मनोवृत्ति को तृप्त करने का प्रयत्न किया है। परन्तु कहीं-कहीं राजभक्ति सम्बन्धी कवि-

ताओं में व्यंग्य की मात्रा काफी कटु तथा तीव्र हो उठी है और वहाँ उनका मस्तिष्क उनके हृदय के स्तर पर उतरकर बोलने लगा है। जैसे—

"हाथ जोर सिर नाइ के, दाँत तरे तृन राखि।
परम नम्र ह्वै कहत हैं दीन बचन अति भाखि॥
"डिस लयाल" हिन्दुन कहत कहां मूढ़ ते लोग।
दृग भर निरखहिं आज ते राजभक्ति संयोग॥"

× × ×

हिन्दू चूरन इसका नाम। विलायत पूरन इसका काम॥
चूरन साहेब लोग जो खाता। सारा हिंद हजम कर जाता॥

× × ×

भीतर-भीतर सब रस चूसै। हँसि-हँसि के तन मन धन मूसै॥
जाहिर बातन में अति तेज। क्यों सखि साजन, नहिं अंगरेज॥

× × ×

दूसरी बात यह है कि आपने ब्रिटिश शासन को "विषस्य विषमौषधम्" के रूप में ग्रहण किया था। इसीलिए आप कहीं-कहीं कहते हैं:—

"जो न प्रजा-तिय दिसि सपनेहुँ चित्त चलावैं।
जो न प्रजा के धर्महि हठ करि कबहुँ नसावैं॥
बाँधि सेतु जिन सुरत किए दुस्तर नद नारे।
रची सड़क बेधड़क पथिक हित सुख विस्तारे॥
ग्राम-ग्राम प्रति प्रबल पाहरू दिए बिठाई।
जिन के भय सों चोर बृन्द सब रहे डराई॥

नृप कुल दत्तक-प्रथा कृपा करि निज थिर राखी।
भूमि कोष को लोभ तज्यौ जिन जग करि साखी ॥"

यद्यपि आप जानते हैं—

ये तो समुझत व्यर्थ सब यह रोटी उत्पात।
भारत कोष विनास कौं हिय अति ही अकुलात ॥

× × ×

ईति भीति दुष्काल सौं पीड़ित कर को सोग।
ताहू पै धन-नास को यह बिनु काज कुयोग ॥
स्ट्रैची डिजरैली लिटन चिंतय नीति के जाल।
फँसि भारत जर-जर भयो काबुल-युद्ध अकाल ॥
सबहिं भाँति नृप-भक्त जे भारतवासी लोक।
शस्त्र और मुद्रण विषय करी तिनहुँ को सोक ॥
सुव्स मिलै अंगरेज कौं, होय रूस की रोक।
बढ़ै ब्रिटिश वाणिज्य पै, हमकों केवल सोक ॥

तथापि आत्मसमाधान के लिए आप रिपन की प्रशंसा में लिखते हैं:—

"जदपि बाहु-बल क्लाइव जीत्यो सगरो भारत।
जदपि और लाटन हूँ को जन नाम उचारत ॥
जदपि हेसटिंग्ज आदि साथ धन ले गए भारी।
जदपि लिटन दरबार कियो सजि बड़ी तयारी ॥
पै हम हिंदुन के हीय की भक्ति न काहू संग गई।
सो केवल तुमरे संग रिपन छाया-सी साथिन भई ॥"

विष की औषधि विष ही है, इस विरोधाभास में इनका पूरा विश्वास है—

> चली सैन भूदाल की बेगम-प्रेषित धाइ।
> अलवर सों बहु ऊँच चढ़ि चले बीर चित चाइ॥
> सैन सस्त्र धन कोष सब अर्पन कियो निजाम।
> दियो बहावलपुर-पति सैन सहित निज धाम॥
> कित हुलकर कित सेंधिया, कित बेगम भूपाल।
> कित काशीपति, कित रहे सिक्ख-राज पटियाल।
> कित लायन ईजानगर, मानी नृप मेवार।
> किते जोधपुर जैपुरी त्रावंकोर कछार॥
> सबा जी रनजीत सिंह हू अब नहिं बाकी जौन।
> करि हैं कछू नाम भारत को अब तो सब नृप मौन॥

उपर्युक्त विरोधाभास को नहीं समझ सकने के कारण ही डॉ० श्यामसुन्दर दास ने भारतेन्दु की रचनाओं में 'आश्चर्य-जनक' विचित्र बात का समावेश पाया है। डॉ० विश्वनाथ प्रसाद ने उनकी शंका का समाधान कर दिया है। लेकिन डॉ० रामविलास शर्मा के अनुसार भारतेन्दु-युग आशा का युग है, जिसे डॉ० प्रसाद ने "निराशा-काल" माना है। सिपाही-विद्रोह के उपरान्त विक्टोरिया के घोषणा-पत्र की ओर शायद आपका ध्यान नहीं गया, इसीलिए यह मत-विरोध है। डॉ० रामविलास शर्मा शेक्सपियर और हाली को प्रगतिशील नहीं मानते, क्योंकि एक मुसलिम शासन की पुनरावृत्ति चाहता है और दूसरा अंग्रेजी साम्राज्यवाद का पृष्ठ-पोषण करता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भी तो राजभक्ति से ओत-प्रोत अपनी कविताओं में अंग्रेजी साम्राज्यवाद का समर्थन करते हुए प्रतीत

होते हैं। डॉ० शर्मा के पास अवश्य ही इसका कोई जवाब नहीं। हिन्दी साहित्यक्षेत्र में इसका उत्तर केवल शिवपूजनजी ही दे सकते हैं, यदि वे भारतेन्दु की जीवनी को लिपिबद्ध करने का यथेष्ट कष्ट उठाएँ।

स्ट्रैची ने ग्लैडस्टोन के जीवन में, चर्चिल ने लेनिन के कार्य-क्रम में; लुडविंग ने मुसोलिनी के व्यवहार में तथा जोड ने गाँधी के सिद्धान्तों में एक प्रकार का विरोधाभास पाया है। क्या वही विरोधाभास भारतेन्दु के काव्य में नहीं है? ग्लैड-स्टोन चूँकि लिबरल है, गाँधी चूँकि उदारवादी गोखले के अनुयायी हैं, भारतेन्दु भी चूंकि 'प्रेमघन' के अनुसार "लिब-रल" हैं, क्या इसीलिए उनकी राजभक्ति में विरोध है? भारतेन्दु ने लिखा भी है—

"लिबरल दल बुधि-मौन शांतिप्रिय अति उदार चित।
पिछली चूक सुधारि सबै करिहैं भारत हित॥"

किन्तु हम यह विरोधाभास केवल उनकी राजभक्ति, देश-भक्ति तथा लोकनीति (जैसे वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, प्रभृति) सम्बन्धिनी रचनाओं में ही नहीं पाते—यह तो उनकी सम्पूर्ण कृतियों में परिव्याप्त है। जहाँ हरिश्चन्द्र पतिव्रत-धर्म की इतनी प्रशंसा करते हैं—

"जगत् में पतिव्रत सम नहिं आन।
नारी हेतु कोइ धर्म न दूज्या जग में यासु समान॥
अनुसूया सीता सावित्री इनके चरित्र प्रमान।
पति-देवता तीय जग धन-धन गावत वेद-पुरान॥
धन्य देस कुल जँह निबसत हैं नारी सती सुजान।
धन्य समय जब जन्म लेत ये, धन्य ब्याह अस्थान॥

परनारी पैनी छुरी, ताहि न लाओ अंग।
रावन हू को सिर गयो, पर नारी के संग॥
वहीं आप पातिव्रत की खिल्ली भी उड़ाते हैं :—
यह सावन सोक-नसावन है मनभावन यामें न लाजे भरो।
जमुना पे चलो सुसबै मिलिके, अरु गाइ-बजाइ के सोक हरो॥
इमि भाषत हैं 'हरिचंद' पिया अहो लाड़िली देर न यामैं करो।
बलि झूलो झुलावो झुको उझको, यहि पाखें पतिव्रत ताखें धरो॥"

इस विरोधाभास का प्रो० विश्वनाथ प्रसाद ने समाधान किया है। आपका कहना है कि भारतेन्दु ने ऐसी कविताओं में शास्त्रोक्त सिद्धान्तों के दृष्टान्त ही प्रस्तुत किये हैं, कुछ व्यभिचार को प्रोत्साहन नहीं दिया है। शुद्ध मनोवैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से ही ऐसी कविताओं की रचना हुई है। फलत: कहीं तो वे उन्मुक्त, उन्मत्त, अनियन्त्रित तथा व्यक्त प्रेम के गीत गाते हुए सुनायी पड़ते हैं :—

"मारग प्रेम को को समुझे 'हरिचंद' यथारथ होत यथा है।
लाभ कछू न पुकारन में बदनाम की होन की सारी कथा है॥
जानत हैं जिय मेरो भलो विधि, और उपाय सबै बिरथा है।
बावरे हैं बृज के सगरे मोहि नाहक पूछत कौन बिथा है।"

तथा—

धारन दीजिये धीर हिए कुल कानि कों आजु बिगारन दीजिये।
मारन दीजिये लाज सबै 'हरिचंद' कलंक पसारन दीजिये॥
चार चवाइन कों चहुँ ओर सों सोर मचार पुकारन दीजिये।
छाँड़ि सँकोचन चंदमुखै भरिलोचन आजु निहारन दीजिये॥

तथा अन्यत्र पवित्र, प्रशांत, नियंत्रित एवं अव्यक्त प्रेम को प्रकट करते हुए दिखायी देते हैं—

प्रीत तुव प्रीतम कों प्रगटै पे।

कैसे के नाम प्रगट तुव लीजे कैसे के बिथा सुनैये ॥
को जाने समुझै जगजिन सों खुलि के भरम गँवैये ।
प्रगट हाय करि नैनन जल भरि कैसे जगहि दिखैये ॥
कबहुँ न जाने प्रेम रीति कोउ सुख सों बुरे कहैये ।
'हरीचंद' पै भेद न कहिये भल हि मौन मरि जैये ॥
गुप्त प्रीति आछी लागै हो प्रगट भये रस जाय ।
जामें या बृज को कोउ नहिं देइ कलंक लगाय ॥

निस्सन्देह इन सभी उद्धरणों में प्रेम का तात्त्विक विश्लेषण तथा कुछेक पदों में लक्षिता एवं गुप्ता नायिकाओं के मनोभावों का अभिव्यंजन हुआ है। भावों का चित्रण करते हुए कहीं-कहीं तो आप प्रेम की चंचल, निर्लज्ज एवं पर-पीड़क वृत्ति का उद्‌घाटन करते हैं और इस प्रकार पद्माकर तथा बिहारी ❀ की श्रेणी में अनायास उतर आते हैं :—

साजि सेज रंग के महल में उमंगभरी
पिय गर लागी काम-कसक मिटायें लेत ।
ठानि विपरीत पूरी मैन के मसूसन सों
सुरत–समर जयपत्रहिं लिखायें लेत ॥
हरीचंद उझकि-उझकि रति गाढ़ी करि
जोम भरी पियहिं झकोरन हरायें लेत ।
याद करि पी की सब निरदय घातें आजु,
प्रथम समागम को बदलो चुकायें लेत ॥

❀फागु की भीर; अभीरन में गहि गोविंदै लै गई भीतर गोरी ।...
नैन नचाय कही मुसकाय, "लला फिर आइयो खेलन होरी" ॥

❀ ❀ ❀

नासा मोरि, नचाइ दृग, करी काका की सौंह ।
कांटे सी कसकै हिए, गड़ी कँटीली भौंह ॥

और यत्र-तत्र प्रेम की गंभीर शिष्ट एवं संवेदनापूर्ण वृत्ति का चित्रांकन करते हुए आप तुलसी तथा सूर ❀ की कोटि में अपना स्थान निर्धारित करते हुए प्रतीत होते हैं—

हौं तो याही याही सोच में विचरत रही री काहे,
दरपन हाथ तें न छिन बिसरत है।
त्यों ही हरिचंद्र जू वियोग औ संयोग दोऊ,
एक से तिहारे कछु लखि न परत है॥
जानी आज हम ठकुरानी तेरी बात,
तू तो परम पुनीत प्रेमपथ बिचरत है।
तेरे नैन मूरति पियारे की बसत ताहि,
आरसी में रैन-दिन देखिबो करत है॥

इन पंक्तियों से यह स्पष्ट जान पड़ता है कि कवि ने पहले प्रौढ़ा नायिका तथा पीछे अनूढ़ा नायिका का वर्णन किया है। आगे चलकर कवि उसी भाँति नवोढ़ा नायिका का सजीव चित्रण करता है—

"आई केलि-मंदिर में प्रथम नवेली बाल
चोरा–चोरी पिय मन-मानिक छुड़ायें लेत।

❀ बहुरि बदन-बिधु अंचल ढाँकी......
निज पति कहेउ तिन्हहिं सिय सैननि॥

× × ×

राम को रूप निहारत सीता कंगन के नग की परछाहीं,
ताते सबै सुध भूल गई............कर टारत नाहीं॥

× × ×

राधे मिले हु प्रतीति न आवति।
यदपि नाथ बिधु बदन बिलोकत दरसन को सुख पावति।

सौ-सौ बार पूछे एक उत्तरू मरू के देति
घूँघट के ओट जोति मुख की दुराए लेति ॥
चूमन न देति 'हरिचन्द' भरि लाज अति
सकुचि-सकुचि गोरे अंगहिं चुराये लेति ।
गहत हि हाथ नैन नीचे किए आँचर में
छबि सों छबीली छोटी छातिन छिपायें लेति ।।"

साथ ही उन्होंने एक आचार्य के समान फ्रायडवादी यौन-विकृति (Sexperversion) का भी चित्र यत्र-तत्र अंकित किया है; जैसे स्वरति (auto sex), समरति (Homosex), चित्ररति, वस्त्ररति, अंगरति, (Fetices), प्रदर्शनरति, स्वपीड़नरति (Machoism), परपीड़नरति (Sadism), मानसिक, हस्तरति आदि—

(१) देखन देहुँन आरसी सुन्दर नन्द कुमार।
कहँ मोहित ह्वै रूप निज, मति मोहि देहु बिसार ॥
लाग भरी अनुराग भरी 'हरिचन्द' सबै रस आपुहिं लेत है ।
रूप-सुधा इकली ही पियै पियहू को न आरसी देखन देत है ॥

(२) नारी नरन कों नारि बनावत नर नारिन नर साजैं ।
गांठ जोरि कै बदन चोति फै चूमि-चूमि मुख भाजै ॥

(३) चूमि-चूमि धीरज धरत तुव भूषण अरु चित्र ।
तिनहीं को गर लाई कै सोइ रहत निज मित्र ॥

(४) ती को छाड़ि के जो तुम मोहन बनि कै आवति हो ।
मोर मुकुट सिर पीत पिछौरो ते सोर भाव दिखावति हो ॥

(५) सदन संताप को मदन मोहिं कदन हित,
दहत अति अगिन तन मैं बढ़ाई ।

चरन पल्लव जुगल त्यौहार गरल-हर सीस मम,
धारि छिन तेहि तुरत दै बुझाई ॥

(६) आजु सिंगार के केलि के मंदिर बैठी न साथ में कोऊ सहेली।
धाय के चूमै कबौं प्रतिबिम्ब कबौं कहै आपुहि प्रेम-पहेली ॥
अंक में आपने आपै लगै 'हरिचंद जू' सी करै आपु नवेली।
प्रीतम के सुख मैं पिय मैं भई आए तें लाज कै जान्यौ अकेली ॥

(७) आजु तन भींजे बसनन सो हैं।
उघरे तन अनुरागहु उरके छिपे न जदपि लजै हैं ॥
रति के चिन्ह युगल तन बसनन ह्वै केहु उघरि उलटौ हैं।
अंग प्रभा मनु बसन रुको नहिं प्रगट खुली सब सौहैं ॥

(८) दोउ नैन जोरि कछु भौंह मोरि झुकि झूमि चूमि मुख दै झकोरी,
अधरन पै धर के अपनो अधर रस मोहिं पिला जा रे।
मेरी खोल कंचुकी-बंद हँसि के रस लै जोवन को कसि-कसि।
'हरिचंद' रंगीली सेजन पै सब कसक मिटा जा रे ॥

(९) लाल यह तो तुरकन की चाल।
दुख देनो गल रेति-रेति कै करनो ताहि हलाल ॥
जो बध करनो होय बधो तौ क्यों खेलत यह ख्याल।
'हरीचंद' मति यों तरसावो बहुत भई नंदलाल ॥

होली आदि त्योहारों के अवसर पर कभी तो वे रीति-कालीन परम्परा का पालन करते हुए पाये जाते हैं—

"खेलौ मिलि होरी ठोरा केसर कमोरी फेंको,
भरि-भरि झोरी लाज जिय मैं बिचारौ ना।
डारौ सबै रंग संग चंगहू बजाओ गाओ,
सबन रिझाओ सरसाओ संक धारौ ना ॥

कहत निहोरि कर जोरि 'हरिचंद' प्यारे,
मेरी बिनती है एक हाहा ताहि टारौ ना।
नैन हैं चकोर मुख-चन्द तें परैगी ओट,
यातें इन आंखिन गुलाल लाल डारौ ना।।"

और कभी वे युग-धर्म की झाँकी भी देते हैं:—

"जुरि आये फाके-मस्त होली होय रही।
घर मै भूँजी भाँग नहीं है तौ भी न हिम्मत पस्त।।
होली होय रही।
मँहगी परी न पानी बरसा बजरौ नाहीं सस्त।
धन सब गया अकिल नाहिं आई तौभी मंगल-कस्त।।
होली होय रही।
पर बस कायर कूर आलसी अंधे पेट–परस्त।
सूझत कछु न बसंत माँहि ये भे खराब औ खस्त।।"
भारत में मची है होरी।।
इक ओर भाग अभाग एक दिसि होय रही झकझोरी।।
....प्रभृति।

प्रो० विश्वनाथ प्रसाद के शब्दों में:—"फिर भी भारतेन्दु की इस कोटि की रचनाओं के सम्बन्ध में यह प्रश्न किया जा सकता है कि इस क्रांतिकाल के प्रगतिशील कवि ने इस श्रेणी की शृंगारिक रचनाएँ क्यों कीं? इस सम्बन्ध में यह जान लेना चाहिए कि भारतेन्दु एक ओर यदि क्रांतिकाल के कवि थे तो दूसरी ओर संक्रांतिकाल के भी। सिपाही-विद्रोह के विध्वंसात्मक आघात से हमारे राष्ट्रीय जीवन की इमारत जो ढही तो उनके विध्वंसात्मक धूलिकणों के साथ हमारे समृद्धि-मय महलों के झरोखों से निकली हुइ विलास की आमोदमय

सामग्रियों की सुगंधि और अगरु-धूम की धूमावलि भी वातावरण में उड़ रही थी। उसके साथ ही देवता की पूजा में अर्पित धूम की भी सुगंधि मिश्रित थी।...........भारतेन्दु की कला के इन सभी पहलुओं पर विचार करने पर ऐसा जान पड़ता है जैसे भारतेन्दु एक ओर अपने पहले के युग की सृष्टि थे और दूसरी ओर अपने तथा अपने बाद के युग के सृष्टा भी। यह सृष्टि और सृष्टा का अपूर्व संयोग एक ही व्यक्तित्व में हिन्दी-साहित्य के किसी एक ही व्यक्ति में दुर्लभ है।"

(साहित्यिक निबंधावली—पृ० १०६।)

इसी से एक सुर में वे यकरंग तथा इंसाँ अल्ला की तरह कजरी-ठुमरी गाने में तन्मय हैं:—

"देखो भारत ऊपर कैसी छायी कजरी।
मिटी धूर में सफेदी सब आई कजरी॥
दुज बेद की रिचन छोड़ी गाई कजरी।
नृप-गन लाज छोड़ी मुँह लाई कजरी॥"
झूम-झूम के मोरे आये पियरवा।
दौरि-दौरि लागे मोरे गरवा॥
'हरिचंद' लटकीली चाल चलि गर डारे मोतियन को इरवा॥

तो दूसरे सुर में यह कहते हुए दृष्टिगोचर होते हैं—

"कजरी ठुमरिन सों मोड़ि मुख सत कबिता सब कोई कहै।
यह कबि बानी बुध-बदन मैं रवि ससि लौं प्रगटित रहै॥"
"तजि ग्राम कबिता सुकवि जन की अमृत बानी सब कहै।"

वास्तव में आप स्वदेशानुराग और राजभक्ति को आत्मोन्नति का साधन समझते हैं। इसीसे कला और साहित्य की

सेवा द्वारा ही आप भारत को जाग्रत कर सकते हैं। आप बाह्य शक्तियों की अपेक्षा आत्मबल पर अधिक विश्वास रखते हैं। फलतः आप अपने काव्य की धारा को जीवन के प्रवाह में मिला देना चाहते हैं—ठीक उस कलाकार के सदृश, जो युग की अस्त-व्यस्त परिस्थिति के झोंकों से निःसंग रहकर कला की एकांत सेवा करता है ताकि जनमन का कल्याण हो।

आपकी प्रतिभा एकांगी नहीं वरन् बहुमुखी है जैसा कि पूर्व ही कहा जा चुका है, (जिसे कि डॉ० शर्मा "कोलाहल" समझते हैं)। उनकी प्रतिभा के इसी चमत्कार पर प्रकाश डालते हुए पं० रामचन्द्र शुक्ल ने "भारतेन्दु हरिश्चन्द्र" शीर्षक एक निबन्ध में लिखा है—"अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के बल से एक ओर तो वे पद्माकर और द्विज देव की परम्परा में दिखायी पड़ते थे, दूसरी ओर बंगदेश के मधुसूदन दत्त और हेमचन्द्र की श्रेणी में, एक ओर तो राधाकृष्ण की भक्ति में झूमते हुए नयी 'भक्तमाल' गूँथते हुए दिखायी देते थे, दूसरी ओर टीकाधारी बगला भगतों की हँसी उड़ाते तथा स्त्री-शिक्षा, समाज-सुधार आदि पर व्याख्यान देते पाये जाते थे—प्राचीन और नवीन का यही सुन्दर सामञ्जस्य भारतेन्दु की कला का विशेष माधुर्य है।......प्राचीन और नवीन के उस संधिकाल में जैसी शीतल और मृदुल कला का संचार अपेक्षित था वैसी ही शीतल और मृदुल कला के साथ भारतेन्दु का उदय हुआ, इसमें सन्देह नहीं।" शुक्लजी के शब्दों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इनकी कला में विरोध की नहीं प्रत्युत् सामञ्जस्य की प्रधानता है। यह "सामञ्जस्य" केवल विरोधाभास के कारण ही सम्भव है क्योंकि इनकी कला के ऊपरी धरातल पर निश्चय ही विरोध परिलक्षित होता है। किन्तु

जब हम उसके भीतरी धरातल तक पहुँचते हैं तब सारा विरोध मिटकर विरोधाभास में परिणत हो जाता है और इस प्रकार भारतेन्दु की कला में नवीन और प्राचीन के सुन्दर सामञ्जस्य का प्रादुर्भाव हो सका है। इसका एकमात्र कारण उनकी कला-साधना ही है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जहाँ इनकी कला की इतनी प्रशंसा की है, कहीं आपने आपपर एक दोषारोपण भी किया है, जो उन्हीं के शब्दों में निम्नलिखित है:—

"यद्यपि इन्होंने अपनी कविता द्वारा नए-नए संस्कार उत्पन्न किये, पर उसके स्वरूप को परम्परानुसार ही रक्खा। मानवीय वृत्तियों ही के मर्मस्पर्शी अंशों को छाँटकर इन्होंने मनोविकारों को तीव्र और परिष्कृत करने का प्रयत्न किया; दूसरी प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों की मर्मस्पर्शिनी शक्ति पर बहुत कम ध्यान दिया। इन्होंने मनुष्य को सारी सृष्टि के बीच रखकर नहीं देखा; उसे उसीके उठाए हुए घेरे में रखकर देखा। मनुष्य की दृष्टि को उसके फैलाये हुए प्रपंचावरण से बाहर प्रकृति के विस्तृत क्षेत्र की ओर ले जाने का प्रयास इन्होंने नहीं किया। बात यह थी कि हिन्दी साहित्य का उत्थान ही ऐसे समय में हुआ जब लोगों की दृष्टि बहुत कुछ संकुचित हो चुकी थी।............बाबू हरिश्चन्द्र ने यद्यपि समयानुकूल प्रसंग छेड़ नए-नए संस्कार उत्पन्न किये पर इन्होंने प्रकृति पर प्रेम न दिखाया। इनका जीवन-वृत्तान्त पढ़ने से भी पता लगता है कि ये प्रकृति के उपासक न थे। इन्हें जंगल, पहाड़, नदी आदि को देखने का उतना शौक न था।"

शुक्लजी के इस दोषारोपण का कारण उनकी रुचि विशेष है। सर्वश्री नन्ददुलारे वाजपेयी, नगेन्द्र प्रभृति

समालोचकों की सम्मति में उनकी कला की सामान्य धारणा बहुत कुछ रोमाण्टिक चेतनाओं से अनुप्राणित है, इसी से वे वर्ड्सवर्थ आदि अंग्रेजी के कवियों के आदर्श को अपना आदर्श बनाया करते हैं। किन्तु बात कुछ और ही है। वास्तव में अंग्रेजी साहित्य में रोमाण्टिक युग— जिसमें एक प्रकार के प्रकृति-चित्रण की प्रधानता है—का आगमन क्लासिकल युग की प्रति-क्रिया के रूप में नहीं हुआ है। वस्तुतः यह सैट्रिकल युग के प्रतिक्रिया स्वरूप-आविर्भूत हुआ। एलेक्जेण्डर पोप ने 'क्रिटिसिज्म" में लिखा था कि "The study of man is mankind" अर्थात् मनुष्य के विवेचन का एकमात्र विषय मानव ही है। लेकिन इस सम्प्रदाय के विरुद्ध एक नवीन सम्प्रदाय को जन्म देते हुए वर्ड्सवर्थ ने भी अपने काव्य के विषय को मुख्यत: मानव तक ही केन्द्रित रक्खा है। इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने शुद्ध प्रकृति का भी चित्रण बहुत कुछ किया है; परन्तु लूसी सम्बन्धी कविताओं में तथा "बाल्यावस्था की स्मृति द्वारा अमरत्व का संकेत" शीर्षक कविता में उन्होंने मानव की महत्ता के ही गान-गाये हैं। स्वयं वर्ड्सवर्थ ने लिखा है:—

"To her fair work did nature link the human soul that through me ran, Much it pained my heart to think what man has made of man". अर्थात् प्रकृति की सुन्दर रचना ने, मुझमें जिस मानवीय आत्मा का निवास है, उसके साथ अपना सम्बन्ध स्थापित किया। किन्तु मेरे हृदय को यह सोचकर बहुत ही दु:ख हुआ कि मनुष्य ने मनुष्य की कैसी अवस्था कर रक्खी

है ?''—इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्ड्सवर्थ की कविता का विषय प्रकृति ही नहीं वरन् मानव है। शेली ने वर्ड्सवर्थ पर लिखी गयी अपनी प्रसिद्ध पुस्तक में इसे मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है। अधिक क्या लिखा जाय, हम जब शेली की कविताओं का अध्ययन करते हैं तब देखते हैं कि कवि अपनी कविताओं में मानव को प्रकृति से उच्च पद प्रदान करता है क्योंकि प्रकृति मानव के निर्माण में सहायिका बनती है। उसने ''कवि-स्वप्न'' में लिखा है:—'वह प्रभात से सायंकाल तक झील में झलमलाती धूप और इश्कपेचों के फूलों पर बैठी-बैठी पीली मधुमक्खियों को देखता रहेगा। इसकी परवाह न करेगा कि इन वस्तुओं की सत्ता क्या है? वह इसके (इन रूपों के) द्वारा ऐसे रूप (कल्पना में) संघटित करेगा जो अमरत्व के अंगज होंगे और जिनकी सत्ता मनुष्य-सत्ता से भी वास्तविक होगी।❀

अतएव यह सिद्ध है कि कवि ने प्रकृति के तत्त्वों का पर्यवेक्षण करके मानव की सत्ता को ही अमर बनाने का नित्य प्रयत्न किया है। फलत: हम यह विश्वास कर ही नहीं सकते कि शुक्लजी ने स्वच्छन्दतावादी चेतनाओं से प्रभावित

❀ "He will watch from dawn to gloom
The lake reflected sun illume.
The yellow bees in the ivy-bloom.
Nor heed, nor see what things they be,
But from these (create he can)
Forms more real than living man."
Nurslings of immortality—Shelley

होकर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की कला में "नर-प्रकृति" के चित्रण का बाहुल्य देखकर उपर्युक्त विचार प्रकट किया है।

यदि भारतेन्दु का युग विशिष्टतावादी युग है, तो प्रताप-नारायण मिश्र का युग व्यंग्यवादी तथा श्रीधर पाठक का युग स्वच्छन्दतावादी युग में परिगणित हो सकता है। परन्तु भारतेन्दु का युग विशिष्टतावादी युग नहीं है, वह तो मूलतः आधुनिक है। अतः हम भारतेन्दु से यह आशा कर ही नहीं सकते कि वे शुक्ल जी की धारणाओं के अनुरूप प्रकृति का चित्रण करते। जहाँ तक हमारा ज्ञान है, शुक्ल जी स्वच्छन्दतावादी कवियों के प्रकृति-चित्रण से भी प्रसन्न नहीं थे। उन्होंने हिन्दी साहित्य के इतिहास में लिखा है:—अंग्रेजी साहित्य में वर्ड्सवर्थ, शेली और मेरेडिथ आदि में उसी ढग का सूक्ष्म प्रकृति-निरीक्षण और मनोरम रूप-विधान पाया जाता है जैसा प्राचीन संस्कृत-साहित्य में। प्राचीन भारतीय और नवीन युरोपीय दृश्य-विधान में पीछे थोड़ा लक्ष्य-भेद हो जायगा। भारतीय प्रणाली में कवि के भाव का आलम्बन प्रकृति ही रही है, अतः उसके रूप का प्रत्यक्षीकरण ही काव्य का एक स्वतंत्र लक्ष्य दिखायी पड़ता है। पर युरोपीय साहित्य में काव्य-निरूपण की बराबर बढ़ती हुई परम्परा के बीच धीरे-धीरे यह मत प्रचार पाने लगा कि "प्राकृतिक दृश्यों का प्रत्यक्षी करण मात्र तो स्थूल व्यवसाय है, उनको लेकर कल्पना की एक नूतन सृष्टि खड़ी करना ही कवि-कर्म है।"

"उक्त प्रवृत्ति के अनुसार कुछ पाश्चात्य कवियों ने तो प्रकृति के नाना रूपों के बीच व्यंजित होने वाली भावधारा का बहुत सुन्दर उद्घाटन किया, पर बहुतेरे अपनी बेमेल भावनाओं का आरोप करके उन रूपों को अपनी अन्तर्वृत्तियों से छोपने लगे।

अब इन दोनों प्रणालियों में से किस प्रणाली पर हमारे काव्य में दृश्य-वर्णन का विकास होना चाहिए, यह विचारणीय है। मेरे विचार में प्रथम प्रणाली का अनुसरण ही समीचीन है।"

शिवमंगल सिंह 'सुमन' ने शुक्ल जी को तुलसी का पक्षपाती तथा अंध भक्त कहा है, पर आपने तुलसी पर भी वही दोषारोपण किया है, जो भारतेन्दु पर किया गया है। उन्होंने "गोस्वामी तुलसीदास" में लिखा है—"अब यहाँ प्रश्न यह होता है कि गोस्वामीजी ने सारा वर्णन इसी पद्धति से क्यों नहीं किया। गोस्वामी जी हिन्दी-कवियों की परम्परा से लाचार थे। कहीं-कहीं इस प्रकार संश्लिष्ट योजना और सूक्ष्म निरीक्षण का जो विधान दिखायी पड़ता है, उसे ऐसा समझिये कि वह उनकी भावमग्नता के कारण आपसे आप हो गया है।"

यही बात भारतेन्दु पर भी लागू है। जिस प्रकार तुलसी ने वर्षा और शरत्-वर्णन द्वारा उपदेश देने की चेष्टा तो की, पर अपने युग का सच्चा प्रतिबिम्ब भी अंकित किया है, क्योंकि मुगलकालीन सभ्यता में पनपने वाले भारत में हम प्रकृति से सिर्फ शिक्षा ही ग्रहण कर सकते थे, न कि ऋषियों के प्राचीन भारत की संस्कृति के अनुरूप प्रकृति के बीच जीवन-यापन की प्रेरणा उपलब्ध कर सकते थे; उसी प्रकार रीतिकालीन हिन्दी-कविताओं के उपरांत हम भारतेन्दु से "विशुद्ध प्राकृतिक वर्णन" की आशा कैसे कर सकते हैं, जबकि हिन्दी-कवियों की परम्परा ही इसके प्रतिकूल थी। इसमें सन्देह नहीं कि भारतेन्दु ने जहाँ कहीं भी प्रकृति का संश्लिष्ट चित्र खड़ा किया है वहाँ वे परम्परा-मुक्त हो गये हैं; पर इससे

उसका गौरव नष्ट होता हुआ नहीं दीख पड़ता है। यथार्थ में हम "सत्य हरिश्चन्द्र" के गंगा-वर्णन का महत्त्व उस नाटक से उसे बिलग करके नहीं आँक सकते, उपर्युक्त प्रकृति-वर्णन के सौंदर्य की पूर्णानुभूति उसके प्रसंग पर ध्यान रखने से ही उपलब्ध होगी। इसमें सन्देह नहीं कि उसमें नाटककार ने अलंकारों का प्रचुर प्रयोग किया है; मगर क्यों? इसपर भी हमें अभी विचार करना पड़ेगा। यह तो सर्वविदित है कि काव्य का कल्पना-तत्त्व ही उसके विषय को मुखर बनाता है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि से कवि का भाव स्पष्ट और प्रभावोत्पादक होता है। यहाँ पर हमें यह देखना है कि इसमें कवि की विधायक कल्पना ही काम कर रही है या कवि की कविता पर रीतिकालीन प्रभाव पड़ा हुआ है, जिससे वह अपने आपको किसी भी प्रकार मुक्त नहीं कर पाया है।

भारतेन्दु ने जिस समय हिन्दी में नाटकों का श्रीगणेश किया उस समय हिन्दी का कोई रंगमंच नहीं था। रंगमंच के पर्दे का रंग भी उतना पक्का और गहरा नहीं होता था। फिर रोशनी का भी प्रबन्ध आज के समान सहज और सरल नहीं था। पाठकों को देश-काल की कल्पना बहुत कुछ अपनी बुद्धि पर जोर देकर करनी पड़ती थी। दर्शकों में हर योग्यता के व्यक्ति रहा करते थे। इसलिए नाटककार को जब कभी किसी स्थान इत्यादि का उल्लेख करना आवश्यक ज्ञात होता था तब वह पर्दे के चित्रों पर भरोसा करके बैठा नहीं रहता था। उसे अपने शब्दों द्वारा उन दृश्यों का चित्रांकन करना पड़ता था। अतः हम देखते हैं कि कवि ने काशी के जिन दृश्यों को अंकित करने के लिए गंगा-वर्णन किया है वे दृश्य आजकल चटकीले रंगीन पर्दों पर तेज रोशनी के

सहारे सहज ही चित्रित रूप में प्रेक्षकों को दिखाये जा सकते हैं; पर कवि को अपने अभाव पर (जिन्हें हम युग की त्रुटि कह सकते हैं) विजय प्राप्त करना है। भारतेन्दु ने "सत्य हरिश्चन्द्र" के गंगा-वर्णन में अलंकारों का अत्यधिक उपयोग किया है। ये अलंकार कहीं तो मूर्त्त और कहीं अमूर्त्त रूप-विधानों को लेकर हमारे सामने आते हैं। जैसे—

नव उज्ज्वल जल-धार हार हीरक सी सोहति।
बिच—बिच छहरति बूंद मध्य मुक्ता मनु पोहित॥
लोल लहर लहि पवन एक पै एक इमि आवत।
जिमि नरगन मन विविध मनोरथ करत मिटावत॥"

आरम्भ की दो पंक्तियों में कवि हमारे सामने गंगा के प्रवाह का मूर्त्त चित्र अंकित करता है और इस प्रकार पर्दे पर चित्रित्र अस्पष्ट दृश्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है, फिर उसकी धुँधली दीन-दशा का स्मरण कर वह तीसरी और चौथी पंक्तियों में लहरों की चित्रोपम बहिरंग अवस्था को अमूर्त्त-विधान द्वारा अंतरंग सौन्दर्य प्रदान करता है। तदनन्तर—

"कहुँ बंधे नव घाट उच्च गिरिधर सम सोहत।
कहुँ छतरी; कहूँ, मढ़ी, बढ़ी मन मोहत जोहत॥"

प्रभृति पंक्तियों द्वारा वह काशी की गंगा के इधर-उधर के वातावरण का एक सिलसिलेवार, संपूर्ण तथा सजीव चित्र खड़ा करता है। नीचे की पंक्तियों में—

"कहुँ सुन्दरी नहात बारि कर-जुगल उछारत।...

...बा नाते ससि कलंक मनु कमल मिटावत ॥"×

अलंकारों की योजना द्वारा एक बड़ा ही चित्ताकर्षक एवं चमत्कारपूर्ण चित्र खींचकर पाठकों के मानसिक नेत्रों के समक्ष गंगा को प्रत्यक्ष कर दिखाता है। सच तो यह है कि भारतेन्दु ने इन पदों में अपनी काव्यप्रतिभा का तुलसी-तुल्य परिचय दिया है। कला के प्रेषणीयता-पक्ष से काम लेते हुए कवि ने अदृश्य वस्तु को दृश्य रूप देकर, असम्भव पदार्थ को सम्भाव्यता के किनारे लाकर तथा उसे कल्पनाग्राह्य ही नहीं मानकर दर्शकों के चित्तविभ्रम-दृश्यजनित रागों को भी तृप्त करने की अत्यन्त अद्भुत क्षमता प्रदर्शित की है। वही हाल "चन्द्रावली नाटिका" के यमुना-वर्णन का भी है। देखिये--

"तरनि-तनूजा-तट तमाल तरुवर बहु छाये।
झुके कूल सों जल परसन हित मनहु सुहाये ॥
किधौं मुकुर में लखत उझकि सब निज-निज शोभा।
कै प्रनवत जल जानि परम पावन फल लोभा ॥"

ऊपर लिखित पंक्तियाँ उपमा, उत्प्रेक्षा, सन्देह और भ्रांति आदि अलंकारों से बोझिल हैं। लेकिन ऐसा तभी बोध होता है जब हम इस प्रकृति-वर्णन को एक स्वतन्त्र काव्य-खण्ड मान लेते हैं। परन्तु ज्यों ही उसे हम "चन्द्रावली नाटिका" के उपयुक्त स्थल पर स्थापित करते हैं त्यों ही यह प्रतिभासित होने लगता है कि नाटककार ने यहाँ भी "सत्य

× तुलना:—

सिसु सुभाय सोहत जब कर गहि बदन निकट पद पल्लव।—
मनहु सुभग जुग भुजग जलज भरि, लेत सुधा ससिसों सचु पाये ॥"
—तुलसी

हरिश्चन्द्र" के गंगा-वर्णन वाले विधान का पालन किया है। सचमुच प्रभावान्विति द्वारा यहाँ पर यमुना का एक सजीव चित्र उभर आता है:—

"कहूँ तीर पर कमल अमल सोभित बहु भांतिन।
कहुँ सैवालिन मध्य कुमुदिनी लगि रहि पाँतिन॥
मनु दृग धारि अनेक जमुन निरखत ब्रज सोभा।
कै उमगे पिय प्रिया प्रेम के अगनित गोभा॥"*

जिस समय ललिता (खिड़की की ओर देखकर) अहा! यमुना जी की कैसी शोभा हो रही है······इत्यादि कहती है तथा सस्वर यमुना पर कवितापाठ करती है, उस समय कवि सम्मेलन का-सा आनन्द मिलता है। हरिश्चन्द्र के निकट यमुना-वर्णन के लिए—उतनी कठिनाइयों के बीच —इस विधान के परिपालन के अतिरिक्त और क्या चारा था?

हाँ, इतना मानना पड़ेगा कि भारतेन्दु के प्रकृति-चित्रण में वह मार्मिकता नहीं है जो उनके उपरान्त के कवियों के प्रकृति-चित्रण में पायी जाती है। उनकी प्रकृति मानवीय भावों से ओतप्रोत नहीं और न उसके हृदय में मानव के सुख-दुख, हर्ष-विषाद के प्रति सहानुभूति और समवेदना ही है। दूसरे शब्दों में छायावादी कवियों ने जिस प्रकार मानव-हृदय और प्रकृति के अन्तःकरण में तदात्म्य दिखलाया है, उस प्रकार की तन्मयता हरिश्चन्द्र कहीं नहीं दिखला सके

---

*तुलना—
देख वसुधा का यौवनभार, गूंज उठता है जब मधुमास।
विधुर उर के-से मृदु उद्‌गार; कुसुम जब खिल पड़ते सोच्छ्वास॥"
—"पन्त"

हैं; किन्तु तो भी हम उनकी बाह्य प्रकृति और अन्त:प्रकृति में कहीं-कहीं सामञ्जस्य पाते हैं, जो छायावाद के पूर्वाभास के रूप में आया है। फलत: भारतेन्दु की प्रकृति भी सप्राण है, सचेतन है और है प्रेरणाओं से परिपूर्ण। जिस प्रकार भारतेन्दु का यमुना-वर्णन अलंकारों के भार से लदा हुआ है उसी प्रकार 'निराला' का यमुना-वर्णन भी नये फैशन के अलंकारों से भरा पड़ा है। ॐ इसमें कवि लाक्षणिक पदों का उपयोग करता हुआ यमुना के वर्णन के बहाने प्रतिभिज्ञा द्वारा कृष्ण-लीला का वर्णन करना चाहता है। प्रस्तुत की उपेक्षा करके वह अप्रस्तुत की ओर बढ़ रहा है और साथ ही हमारे रागों को परितृप्त नहीं करके मात्र कल्पना-शक्ति को सजग करता है। यदि वह यमुना का साकार और सजीव चित्र अंकित करता, तो उसे देखकर हमारे मानसिक नेत्र तृप्त होते और हमारा हृदय आनन्द का अनुभव करता; पर यमुना-वर्णन के व्याज से कवि, जो उक्ति-चमत्कारों का साम्राज्य फैलाना चाहता है वह हमें केवल आश्चर्यचकित भर करता है। यह बात दूसरी है कि श्रीकृष्ण की लीला का उल्लेख ही हमारे हृदय में संस्कारवश नवीन-नवीन भावों का उन्मेष करता है और हम आनन्दातिरेक का अनुभव करते हैं। मगर वह शृंगार-रस की निष्पत्ति में उद्दीपन विभाव तक ही सीमित रहता है—

ॐ "स्वप्नों-सी उन किन आँखों की पल्लव-छाया में अम्लान
यौवन की माया-सा आया मोहन का सम्मोहन ध्यान?
गन्धलुब्ध किन अलिबालों के मुग्ध हृदय का मृदु गुंजार
तेरे दृग कुसुमों की सुषमा जाँच रहा है बारम्बार?"

"यमुने, तेरी इन लहरों में किन अधरों की आकुल तान
पथिक-प्रिया-सी जगा रही है उस अतीत के नीरव गान
बता कहाँ अब वह वंशीवट? कहाँ गये नटनागर श्याम?
चल चरणों का व्याकुल पनघट, कहाँ आज वह वृन्दा धाम?"

इन पंक्तियों में कहीं हम मानवीकरण, कहीं मूर्त्तिमत्ता, कहीं लक्षण-वैचित्र्य और कहीं विशेषण-विपर्यय का चमत्कार पाते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि आज के कवि के प्रकृति-चित्रण में और भारतेन्दु के प्रकृति-चित्रण में कोई आसमान-जमीन का अन्तर नहीं है। यह बात दूसरी है कि भारतेन्दु के प्रकृति-चित्रण में हम वाल्मीकि और कालिदास के हृदय की एकाग्र अनुरक्ति तथा सूक्ष्म-निरीक्षण-शक्ति का अभाव पाते हैं; परन्तु फिर भी द्विजदेव की परम्परा का पूर्ण-निर्वाह तो पाते ही हैं। ❀ आधुनिक कवियों में 'निराला' की अपेक्षा प्रगतिवादी पन्त ने गंगा के वर्णन की आड़ में साम्यवाद का प्रचार किया है—

"वह गंगा, यह केवल छाया; वह लोकचेतना, यह माया,
वह आत्मवाहिनी ज्योतिसरी; यह भूपतिता कंचुक काया—
वह गंगा जनमन से निःसृत; जिसमें बहु बुद् बुद् युग नर्त्तित,
वह आज तरंगित संसृति के मृत सैकत को करने प्लावित॥

❀ जैसे—

भूले-भूले भौंर बन भांवरे भरैंगे चहूँ,
फूलि फूलि किंसुक जके से रहि जइहैं।
······रीहैं पहि लेइहैं हलाहल मंगाय
या कलानिधि की एको कला चल न पइहैं॥

प्रकृति-वर्णन के बहाने इस प्रकार के विजातीय उद्गार या विचार प्रकट करना भी कहाँ तक उचित है, इसपर शुक्लजी ने निम्नलिखित सम्मति दी है—"इससे स्पष्ट है कि दृश्य वर्णन करते समय कवि उपमा, उत्प्रेक्षा आदि द्वारा वर्ण्य वस्तुओं के मेल में जो दूसरी वस्तुएँ रखता है सो केवल भाव को तीव्र करने के लिए। अतः वे दूसरी वस्तुएँ ऐसी होनी चाहिए जिनसे प्रायः सब मनुष्यों के चित्त में वे ही भाव उदित होते हों जो बाह्य, वस्तुओं से होते हैं। यों ही खिल-वाड़ के लिए बार-बार प्रसंग-प्राप्त वस्तुओं से श्रोता या पाठक का ध्यान हटाकर दूसरी वस्तुओं की ओर ले जाना, जो प्रसंगानुकूल भाव उद्दीप्त करने में भी सहायक नहीं, काल के गाम्भीर्य और गौरव को नष्ट करना है, उसकी मर्यादा बिगा-ड़ना है।" कहने का आशय यह है कि आधुनिक कवियों के यमुना तथा गंगा-वर्णन से भारतेन्दु का गंगा-यमुना-वर्णन अधिक काव्योचित एवं उत्तम है। कवि ने अलंकारों का उपयोग प्रदर्शन के लिए नहीं किया है। कवि अपने दर्शकों के समीप अपने भावों (रंगमंच की त्रुटियों पर परोक्ष रूप से खेद प्रकट करता हुआ) को स्पष्टतः रखने के लिए ही अलं-कारों का आश्रय लेता है—"सत्य हरिश्चन्द्र" के श्मशान-वर्णन से इसकी पुष्टि हो जाती है—

"सूरज धूम बिना की चिता सोई अन्त में लै जल माँहि बहाई।
बोलैं घने तरु बैठ विहंगम रोवत सो मनु लोग-लुगाई॥
धूम-अंधार कपाल निशाकर; हाड़ नछत्र लहू-सी ललाई।
आनन्द हेतु निशाचर के यह काल मसान-सी सांझ बनाई॥"

अतः हम देखते हैं कि भारतेन्दु ने प्रकृति का वर्णन समी-चीन ढंग से किया है और इस क्षेत्र में कितने ही अति आधु-

निक कवियों से भी आप अनायास बाजी मार ले जाते हैं। तब दूसरा प्रश्न उठ खड़ा होता है कि क्या भारतेन्दु, जो शुद्ध प्रकृति की अपेक्षा नर-प्रकृति का चित्रण किया करते हैं, उसमें सफल हो सके हैं अथवा नहीं? केवल नर-प्रकृति का चित्रण करके भी आधुनिक तथा प्राचीन काल में बड़े-बड़े लेखक और महाकवि अमर हो गये हैं, जिनमें शेक्सपियर, गेटे तथा टाल्सटाय इत्यादि का नाम प्रमुख है। अतः भारतेन्दु की इस प्रतिभा का परिचय हमें उनके नाटकों में मिलता है। उनकी नाट्यकला की भी कटु से कटु आलोचना हुई है। बाबू श्यामसुन्दर दास ने उनके "सत्य-हरिश्चन्द्र" की समीक्षा करते हुए लिखा है—

"इस प्रकार के अनेक उदाहरण उपस्थित किये जा सकते हैं जिनसे यह स्पष्ट विदित हो सकता है कि भारतेन्दु जी को दृश्य काव्य का न तो पूरा-पूरा साहित्यिक ज्ञान था और न उन्होंने भारतीय पद्धतियों के भेदों को ही पूर्ण रूप से हृदयंगम किया था...... ।"

"सत्य हरिश्चन्द्र" की नाट्यकला पर उन्होंने अधोलिखित दोषारोपण किये हैं।—

१. "सत्य हरिश्चन्द्र" में न तो अर्थप्रकृतियों का ही पता लगता है न अवस्थाओं का और न संधियों का।

२. इस नाटक के पढ़ने से हमें यह नहीं विदित होता कि वास्तव में उसका नायक कौन है—हरिश्चन्द्र या विश्वामित्र?

३. कार्य-व्यापार का उतार-चढ़ाव क्रमशः होना चाहिए, पर इसमें चढ़ाव में नाटक का अधिक अंश लग जाता है, उतार बहुत शीघ्रता से होता है।

४. अभिनय करने के उद्देश्य से जो नाटक लिखे जाते हैं

उनमें एक साधारण बात यह रहती है कि क्रमशः ज्यों-ज्यों अभिनय होता चलता है; त्यों-त्यों अंक छोटे होते जाते हैं। × × × × अभिनय करने के लिए जो नियम सबसे आवश्यक है उसका यदि "सत्य हरिचन्द्र" को एक विशेष अपवाद मान लें तो दूसरी बात है, नहीं तो इस दृष्टि से यह सर्वथा दोष-पूर्ण है।

५. करुण-रस का संचार सीमा से बाहर है।

६. गंगा-वर्णन में देश-काल-दोष का आ जाना। प्रभृति।

प्रथम दोषारोपण का समुचित उत्तर प्रो० विश्वनाथ प्रसाद ने भाइ केसरी जी की 'भारतेन्दु और उनके नाटक' नामक सुप्रसिद्ध समीक्षा-पुस्तक की भूमिका में दिया है, जो नीचे द्रष्टव्य है—"व्यर्थ ही स्व० श्यामसुन्दर दास ने उनके नाटकों में भारतीय नाट्यशास्त्र का अनुसन्धान करते हुए यह लिख मारा है कि—भारतन्दुजी ने अपन नाटकों में न तो भारतीय पद्धति का अनुसरण किया है न युरोपीय पद्धति का। दोनों की कुछ-कुछ बातों का यथारुचि पारसी नाटक-कम्पनियों और आधुनिक बँगला नाटकों के अनुसरण पर उपयोग किया है। यह यदि किसी सिद्धान्त पर होता अथवा किसी नई पद्धति को प्रचलित करने के उद्देश्य से किया जाता तो अवश्य कुछ महत्त्व का हो सकता।"

"इस तरह की आलोचना तभी युक्तिसंगत होती जब कि भारतेन्दु का लक्ष्य होता भारतीय नाट्यशास्त्र के प्राचीन नियमों का पालन करना।

सच बात तो यह है कि भारतेन्दुजी इस सम्बन्ध में अपने परम उन्नत नाट्यशास्त्र के ज्ञान का उपयोग उस समय करना

चाहते ही नहीं थे। बल्कि उन्होंने ठीक इसके प्रतिकूल अपना विचार प्रकट किया है:—"अब नाटकादि दृश्य काव्य में अस्वाभाविक सामग्री परिपोषक काव्यसादृश्य सभ्य मण्डली को नितांत अरुचिकर है, इसलिए स्वाभाविकी रचना ही इस काल के सभ्यगण की हृदय ग्राहिणी है; इसीसे अलौकिक विषय का आश्रय करके नाटकादि दृश्य काव्य का प्रणयन करना उचित नहीं। अब नाटक में कहीं, पंच संधि या ऐसे अन्य विषयों की कोई आवश्यकता नहीं बाकी रही। संस्कृत नाटक की भाँति हिन्दी नाटक में इनका अनुसन्धान करना वा किसी नाटकांग में इनको यत्नपूर्वक रखकर हिन्दी नाटक लिखना व्यर्थ है। ऐसी दशा में उनके नाटकों की समालोचना करते समय उनकी प्रगतिशील विचार-धारा को ध्यान में रखना आवश्यक हो जाता है।"

द्वितीय छिद्रान्वेषण भी उसी प्रकार निस्सार है क्योंकि बाबू साहब के अनुसार "स्वप्न" को सत्य मानकर और उसी के कारण भिखारी बनकर स्त्री-पुरुष-सहित जगह-जगह टक्करें मारता फिरता और वह भी केवल किसी की प्रेरणा से—फल की प्राप्ति नहीं कहा जा सकता। फिर हरिश्चन्द्र का न प्रयत्न कहीं देखने में आता है और न प्रत्याशा या नियताप्ति का कहीं पता लगता है। क्रियाशील तो विश्वामित्र देख पड़ते हैं। हरिश्चन्द्र तो अकर्मण्य की भाँति जो-जो सिर पर पड़ता है उसे चुपचाप सहते जाते हैं।' केवल इसीलिए विश्वामित्र नायक के पद पर प्रतिष्ठित हो जाते हैं और हरिश्चन्द्र उस पद से च्युत हो जाते हैं—यह तर्क हास्यास्पद है। यूनानी ट्रेजेडी के अनुसार आन्तरिक संघर्षों का समना करके तथा दुःखों को सहन करके निस्सन्देह हरिश्चन्द्र नायक के पद पर

अधिष्ठित हो जाते हैं; पर संस्कृत नाटकों के अनुसार भी तो उनका नायक-पद अक्षुण्ण रहता है। भवभूति के "उत्तर राम चरित" में राम भी तो इसी प्रकार अन्तर्द्वन्द्वों पर विजय प्राप्त करते हैं और कष्ट झेलने के समय सहिष्णु बने रहते हैं। किन्तु इसलिए उनका नायकत्व नष्ट नहीं होता। "स्वप्न ही सत्य है और सत्य स्वप्न है" के अनुसार हरिश्चन्द्र का स्वप्न को सत्य मानकर आचरण करना उनके चरित्रबल का परिचायक है। फिर स्वप्न, स्वप्न कहाँ रहा जब जागरणावस्था में विश्वामित्र ने उनसे सत्यरक्षा के लिए वचन ले लिया।

साधारण तौर पर यह देखने में आता है कि वयस्क मनुष्य कर्मों के संसार से भावों के संसार को अधिक पसंद करता है। छोटा बालक अपने भावावेश को क्रियाशीलता में परिणत कर देता है, जैसे, किसी को मारपीट में व्यस्त देखकर स्वयं भी डंडा भाँजने का स्वाँग करने लगता है; पर प्रौढ़ व्यक्ति इस प्रकार की चेष्टा में छिछलापन पाता है। उसी प्रकार महान् व्यक्ति गांभीर्य की दृष्टि से सहनशीलता को अपनाता है और ओछे व्यक्ति के समान छोटे-बड़े सभी जंजालों की ओर मुक्ति की इच्छा नहीं रखता। हरिश्चन्द्र चूँकि धीर प्रशांत नायक है, इसलिए हम उनसे किसी प्रकार के क्षुद्र आचरण की आशा नहीं रख सकते। जब प्रयत्न का उपयुक्त अवसर आता है, तब हम उन्हें कार्य व्यस्त तथा क्रियाशील पाते हैं जिसे स्वयं बाबू साहब ने भी स्वीकार किया है।

तीसरे दोषारोपण का प्रक्षालन स्वयं बाबू साहब ही चौथे छिद्रान्वेषण द्वारा कर डालते हैं। जब नाटक की कथावस्तु के चढ़ाव में नाटक का अधिक अंश व्यय होता है और उतार में शीघ्रता से काम लिया जाता है तब फिर यदि आरम्भिक

अंकों में दर्शकों का कम समय तथा अन्तिम अंक में अधिक समय नष्ट होता है, तो यह उन्हें खल नहीं सकता क्योंकि कथानक के चढ़ाव के समय ही उन्हें धैर्य से काम लेने का अभ्यास जैसा हो जाता है, फलतः उतार के समय यदि अधिक समय व्यय करने का उन्हें कष्ट उठाना पड़ता है, तो औत्सुक्य के संकलन के कारण उन्हें इसका ज्ञान नहीं होता। समय का उपर्युक्त प्रतिबन्ध प्रतिभासम्पन्न नाटककारों के लिए नहीं है। यदि ऐसी बात होती तो यूनानी देशकाल के बन्धनों को न तो शेक्सपियर तोड़ता और न इब्सन उन्हें पुनः जोड़ता। आइन्सटाइन इसे प्रमाणित कर चुका है कि समय सापेक्ष है न कि निरपेक्ष। गर्म तवे पर पाँच सेकेंड बैठना पाँच घण्टे के तुल्य है और किसी से पाँच घण्टे प्रेम करना पाँच मिनट के समान है। उसी प्रकार "सत्य हरिश्चन्द्र" के अन्तिम अंक में चूँकि कार्य-व्यापार का उतार अत्यन्त शीघ्रता के साथ हो रहा है, इसलिए यदि उसमें अधिक समय भी लगता है, तो बुरा नहीं मालूम होता है, क्योंकि परिणाम जानने की दर्शकों की उत्कण्ठा बनी रहती है, जिसके कारण समय कैसे समाप्त हो जाता है, इसका भी ज्ञान नहीं रहता।

पाँचवा और छठा दोषारोपण कुछ-कुछ ठीक है। करुण रस के अतिशय उद्रेक के कारण "सत्य हरिश्चन्द्र" के देखने के समय दर्शकों को काफी दुःखी होना पड़ता है; पर इससे वे क्षुब्ध नहीं होते। जहाँ तक मेरी धारणा है, वे रेचनवाद के सिद्धान्त के अनुसार आनन्द ही उठाते हैं क्योंकि आँसुओं के प्रवाह में उनकी चित्तशुद्धि ही होती है। गंगा-वर्णन में काल-दृष्टि के आ जाने से नाटक आधुनिक हो जाता है और

जो "काशी के छाया-चित्र" में जाकर पराकाष्ठा पर पहुँचता है।

"देखी तुमरी कासी–लोगो, देखी तुमरी कासी।
जहाँ विराजैं विश्वनाथ विश्वेश्वर जी अविनासी।
आधी कासी भाट–भँडेरिया, ब्राह्मण औ संन्यासी।
आधी कासी रंडी–मंडी रांड खानगी खासी॥

भारतेन्दु की नाटकरचना का एकमात्र लक्ष्य प्राचीनता के दलदल से नवीनता का उद्धार ही था।

अतः "सत्य हरिचशन्द्र" में मानव की सद्वृत्ति का जैसा रम्य प्रदर्शन हुआ है वैसा किसी अन्य नाटक में नहीं पाया जाता।

बाबू साहब ने "चन्द्रावली" की यदि प्रशंसा की है, तो लगे हाथों उसकी निन्दा भी की है, उन्हीं के शब्दों में निम्नलिखित सारांश है:—

१. पर साहित्यिक या व्यावहारिक दृष्टि से यदि इस नाटक का विवेचन किया जाय तो इसमें से अस्वाभाविकता स्थान-स्थान पर टपकती है।

२. संध्या और वर्षा के जो प्राकृतिक दृश्य बीच-बीच में अंकित किये गये हैं वे केवल उद्दीपन का कार्य करते हैं; कहीं भी इन प्राकृतिक दृश्यों को चन्द्रावली के मानवीय जीवन का अंग बनाकर प्रकृति का और उसके दृश्य का सामंजस्य स्थापित करने का उद्योग नहीं किया गया है।

३. न जाने किस आदर्श को सामने रखकर इसके पात्रों का चरित्रचित्रण किया गया है।

प्रथम आक्षेप का उत्तर स्वयं भारतेन्दु ने 'चन्द्रावली' की भूमिका में दिया है। आपने लिखा है इसमें तुम्हारे उस प्रेम का वर्णन है, इस प्रेम का नहीं जो संसार मेंप्र चलित है। हाँ, एक अपराध तो हुआ, जो अवश्य क्षमा करना होगा। वह यह कि यह प्रेम की दशा छनकर प्रसिद्ध की गयी। प्रसिद्ध करने ही से क्या, जो अधिकारी नहीं है उनकी समझ ही में न आयेगा।" इन पंक्तियों के पढ़ने से ऐसा ज्ञात होता है कि अनधिकारी होने के कारण ही बाबू साहब को इसमें अस्वाभाविकता स्थान-स्थान पर टपकती-सी नजर आती है।" नहीं तो जो उनके लिए अस्वाभाविक है वही अधिकारी व्यक्ति के लिए स्वाभाविक है। वास्तव में 'चन्द्रावली' एक धार्मिक पर अद्भुत भावनाटिका (phantasy) है। इसको समझने के पूर्व बल्लभों के सिद्धान्त को समझ लेना चाहिए। नन्द दास ने अपने "सिद्धान्त पंचाध्यायी" में इसपर बहुत कुछ प्रकाश डाला है। उदाहरणत: गोपियों की कृष्णोन्मुखभावना, प्रेम-रति की व्यवस्था, गोपी-विरह की व्याख्या, गोपियों का उन्माद, 'रास', अद्भुत रस या रहस्य प्रभृति।

'चन्द्रावली' के आक्षेपों का उत्तर दिया जाता है। शुकदेव जी ने विष्कम्भक में ही कहा है—"पर वह जो परम प्रेम अमृतमय एकांत भक्ति है, जिसके उदय होते ही अनेक प्रकार के आग्रह स्वरूप ज्ञान-विज्ञानादिक अंधकार नाश हो जाते हैं,......... इनका कैसा विलक्षण प्रेम है कि अकथनीय और अकरणीय है; क्योंकि जहाँ माहात्म्य-ज्ञान होता है वहाँ प्रेम नहीं होता और जहाँ प्रेमपूर्वक प्रीति होती है वहाँ माहात्म्य-ज्ञान नहीं होता। ये धन्य हैं जो इनमें दोनों बातें एक संग मिलती हैं।" हम देखते हैं कि "चन्द्रावली" में 'परम-प्रेम अमृतमय एकांत

भक्ति' जिसे 'विलक्षण-प्रेम' कहा गया है, उसीका निर्दशन हुआ है। तदनन्तर नारदजी भी बोलते हैं—"अहा! कैसा विलक्षण प्रेम है, यद्यपि माता-पिता, भाई-बन्धु सब निषेध करते हैं और उधर श्रीमतीजी का भी भय है तथापि श्रीकृष्ण से जल में दूध की भाँति मिल रही हैं।" चन्द्रावली, जो अनूठी कनिष्ठा नायिका है, उसे श्रीकृष्ण से प्रेम हो जाता है। वह उस प्रेम को एकांत एवं गुप्त रखना चाहती है पर उसकी आँखें बता देती हैं कि वह श्रीकृष्ण के प्रेम में मग्न है—

"तेरे नैन मूरति पियारे की बसत ताहि,
आरसी मे रैन-दिन देखिबो करत है।"

उसकी आँखों में प्रिय की छवि बस रही है, जिसे वह मीरा की भाँति—

"नैनन बनज बसाऊँ री जो मैं साहब पाऊँ
डरती पलक न लाऊँ री—।"

निरन्तर दर्पण में देखकर रहना चाहती है। वह कबीर के समान—

"मुर्शिद नैनों बीच नबी है—नहीं सोचती है, क्योंकि "ज्ञान-विज्ञानादि अन्धकार का नाश" करना है। वह सूर के सुर में सुर मिलाकर कहती है—

नैन भये बोहित के भाग ।...............
वह समुद्र, ओछे बासन ये, करैं कहौं सुख रासि।
सुनहु 'सूर' ये चतुर कहावत, वह छवि महा प्रकासि॥"

तथा प्रताप स्याहि के समान केवल नायिका-भेद के चक्कर में नहीं पड़ती—

खेलत खेल गए जल में, बिना काम वृथा कत जाय बितावै ॥

× × +

कौन परी यह बानि भरी। नित नीर भरी गगरी ढरका है ॥

इसीसे उसने अन्यत्र कहा है—

जिन आँखिन में तुव रूप बस्यो, उन अँसुविन सों अब देखिए का ? •

क्योंकि—उसकी प्रेम-साधना अन्तर्मुखी है।

चन्द्रावली का प्रेम निष्काम है, वह प्रतिदान नहीं चाहता इसीसे वह श्रीकृष्ण की सुधि में निमग्न है और उनके प्रत्यक्ष रूप-दर्शन के लिए अत्यन्त व्याकुल नहीं। उसने कहा भी है—

"संसार में जितना प्रेम होता है, कुछ इच्छा लेकर होता है और सब लोग अपने सुख में सुख मानते हैं, पर उसके विरुद्ध तू बिना इच्छा के प्रेम करती है और प्रीतम के सुख से सुख मानती है। यह तेरी चाल संसार से निराली है। .... पर प्यारे! तुम्हारा प्रेम इन दोनों से विलक्षण है, क्योंकि वह अमृत तो उसी को मिलता है जिसे तुम आप देते हो।" सच तो यह है कि चन्द्रावली 'प्रेम की पीर' को जानती है और यह भी जानती है कि उसका नायक निर्दय है, पर है सुजन। लेकिन उसकी निष्ठुरता का अन्त तभी होता है जब

• तुलना—"रसखानि बिलोकति बौरी भई, दृग मूंदि कै ग्वारि पुकारी हंसी है।
खोल री घूंघट, खोलौं कहा, वह मूरति नैनन मांझ बसी है॥"

प्रेम-पात्र कलंक-कालिमा के सागर में नखशिख निमज्जित हो जाता है। दूसरे शब्दों में यह प्रेम उसी की कृपा-भेंट है, जैसा कि सूर ने कहा है—

"मन में इहै विचार करत हरि, व्रज घट-घर सब जाऊँ।
गोकुल जनम लियो सुख-कारण सबको माखन खाऊँ॥"

और इसके महत्त्व को प्रेमी या प्रेम-पात्र ही समझ सकता है—

यह महिमा एई पै जानैं जाके आप बँधावत।
सूर स्याम सपने नहिं दरसत मुनि जन ध्यान लगावत॥

जिसी क्षण उसका (भक्त का) अहं भाव मिटा और वह निन्दा-स्तुति से ऊपर उठा उसी क्षण उसकी निर्ममता का भी स्वतः दर्शन हो जाता है—

सूर पतित तरि जाइ तनक में जो प्रभु नेकु ढरै।"

पुष्टिमार्ग के सिद्धान्तों के अनुसार ये सारी बातें यथार्थ हैं। चन्द्रावली इसीसे गुनगुनाती है—

पहले मुसकाइ लजाइ कछू, क्यों चित्त सुरिमो तन छाम कियो।
पुनि नैन लगाइ बढ़ाइ कै प्रीति, निवाहन को क्यों कलाम कियो॥
हरिचंद भये निरमोही इते निज, नेह को यों परिनाम कियो॥
मन मांह जो तोरन ही को हुती, अपनाइ के क्यों बदनाम कियो॥"

जितना ही अधिक वह निष्ठुर कृष्ण के वियोग का अनुभव करती है, उतना ही अधिक वह उन्मादग्रस्त होती जाती है। विरह की यह कैसी पुण्य दशा है जिसमें विरही जड़ और चेतन का भेद-भाव भूल जाता है—

"बिरहाकुल ह्वै गईं सबै पूँछत बेली बन।
को जड़ को चैतन्य, न कछु जानत बिरही जन॥"

चन्द्रावली नन्ददास की गोपियों के समान वृक्ष-लता-गुल्मों से कृष्ण का पता पूछती फिरती है—

अहो अहो बन के रुख कहुँ देख्यौ पिय प्यारो।
मेरो हाथ छुड़ाइ कहौ वह किते सिधारो॥
अहो कदम्ब अहो अंब-निंब अहो बकुल तमाला।
तुम देख्यौ कहुँ मनमोहन सुन्दर नन्द लाला॥*

वस्तुतः यह विरह पलकांतर वियोग के अंतर्गत है। इसीलिए बल्लभ-सम्प्रदाय के अनुसार चन्द्रावली के विरह का प्रासाद खड़ा किया गया है। इसी विरह का अनुभव स्वयं सूरदास ने भी किया था—

"हाथ छुड़ाए जात हो निबल जान के मोहि।
हृदय से जो जाहु तो मरद बदौंगे तोहि॥"

सूफियों के हाल से चन्द्रावली का उन्माद भिन्न कोटि का है। चन्द्रावली ने कृष्ण का प्रत्यक्ष दर्शन किया था: रत्नसेन पद्मावती के परोक्ष रूप पर ही रीझकर मूर्च्छित हो गया था। चन्द्रावली कृष्ण के वियोग का अनुभव करने बाद ही कृष्ण में एकाकार होती है।

सूर ने कहा है—विरहौ प्रेम करै। क्रमशः वह अपना

तुलना—

*हे पालनि, हे जगते, जूथके, सुनि हित दे चित्त।
मान-हरन, मन हरन लाल गिरिधन लखे रत? × ×
हे चन्दन, दुख-दन्दन सबकी जरनि छुड़ावहु।
नन्दनन्दन, जग बन्दन चन्दन हमहिं बतावहुं। × ×
हे कदम्ब, हे निंब, अंब क्यो रहे मौन गहि?
हे बट, उतंग, सुरंग, वीर कहुँ तुम इत उत लहि?

अस्तित्व और आत्मरूप भूलकर कृष्णमय हो जाती है या स्वयं कृष्ण हो जाती है। तभी तो संध्या कहती है—

पूछत सखी के एकै उत्तर बतावति
जकी सी एक रूप आज श्यामा भी श्याम है ॥

सूर की गोपियाँ भी कभी–कभी ऐसा ही अनुभव करती थीं—

जब राधे, तब हीं मुख 'माधौ माधौ रटति रहै।
जब माधौ ह्वै जानति, सकल तनु राधा-विरह दहै ॥*

कभी उसे चन्द्रमा में सूर्य का भ्रम होता है और कभी तो वह पवनदूत को अपने प्रिय के यहाँ भेजना चाहती है और कभी भ्रमरदूत को—

अरे पौन सुख भौन सबै थल गौन तुम्हारो।
क्यों न कहौ राधिका रौन सों मौन निवारो
अहे भंवर तुम श्याम रंग मोहन–व्रत धारी।
क्यों न कहौ वा निठुर श्याम सों दशा हमारी ॥ ×

तुलना—
*अनुखन माधव माधव सुमिरत सुंदरि भेलि मधाई।
ओ निज भाव सुभाव हि बिसरल अपने गुन लुबधाई ॥"
—[विद्यापति]

× एहे वीर पौन ! तेरो सबै ओर गौन,
बारि तो सों और कौन मानै डर कोंही बानि दै।
जगत के प्राय ओछे बड़े को समान,
घन आनन्द-निधान सुख दानि दुख यानि दै ॥
—[आनन्दघन]

इस तरह चन्द्रावली नन्द दास के शब्दों में—

"इहि विधि बन-बन ढूंढ़ि बूझि उनमत की नाईं।
करन लगीं मनहरन लाल-लीला मन भाई॥
मोहन लाल रसाल की लीला इनहीं सो हैं
केवल तन्मय भईं न कछु जानैं हम को हैं॥"

प्रेम की तल्लीनता में खो जाती है। आगे चलकर वह कहती है—प्यारे! तुम्हारी निर्दयता की भी कहानी चलेगी। हमारा तो कपोत व्रत है। हाय! स्नेह लगाकर दगा देने पर भी सुजान कहलाते हो। सूरदास ने भी कृष्ण के प्रेम का इन्हीं शब्दों में स्मरण किया है—

"प्रीति करि दीन्हें गले छुरी।
जैसे बधिक चुगाय कपटकन पाछे करत बुरी॥
मुरली मधुर चोप करि कांपो, मोर चन्द्र टटवारी।
बंक बिलोकनि लूक लागि बस सकी न तनहिं संवारी॥"*

चन्द्रावली कृष्ण को उपालंभ ही नहीं देती, बल्कि यहाँ तक कहती है—बस, अब मैं गाली दूँगी। और क्या कहूँ, बस, आप आपही हैं; देखो, गाली में भी तुम्हें मैं मर्मवाक्य कहूँगी—झूठे, निर्दय, निर्धन, "निर्दय हृदय—कपाट," बखेड़िये और निर्लज्ज, ये सब तुम्हें सच्ची गालियाँ हैं। सूर ने भी कृष्ण को कम जली-कटी नहीं सुनायी है—

कालो कृतहि न माने

तथा—सूर स्याम वे अति खोटे आरि।

---

*काह कहौं 'घन आनन्द' प्यारे, इतौ हठ कौन पै आये लियौजू।
हाय! सुजान सनेही कहाय क्यों, मोर जमाइ कै द्रोह कियौजू॥"

—घनानन्द

"तेरे तन घन स्याम, स्याम बनस्याम उतै सुनि।
तेरी गुंजन सुरलि मधु दे उत मधुर मुरली सुनि।"
—[सत्यनारायण]

सत्यनारायण ने भी बुरा-भला कहा है—

माधव, आप सदा के कोरे।
या कास जग में प्रसिद्ध अति 'विवटी रकम' कहाओ।
'बड़े-बड़े तुम मठा धुंवारे,' क्यों सांची खुलवाओ।"

हो सकता है, कुछ लोग इसे मुसलमानी प्रभाव कहें। जिस प्रकार सूर इत्यादि पर सूफियों का प्रभाव पड़ा था, उसी प्रकार भारतेन्दु पर मुसलमानी प्रभाव पड़ा है। शुक्लजी ने कृष्णभक्ति-शाखा का विवेचन करते हुए लिखा है—"इस भाव की उपासना यदि कुछ दिन चले तो उसमें गुह्यता और रहस्य की प्रवृत्ति हो ही जायगा। रहस्यवादी सूफियों का उल्लेख ऊपर हो चुका है, जिनकी उपासना भी "माधुर्य भाव" की थी। मुसलमानी जमाने में इन सूफियों का प्रभाव देश की भक्ति-भावना के स्वरूप पर बहुत कुछ पड़ा। "माधुर्य भाव को प्रोत्साहन मिला। माधुर्य भाव की जो उपासना चली आ रही थी, उसमें सूफियों के प्रभाव से 'आभ्यंतर मिलन,' 'मूर्च्छा,' 'उन्माद' आदि की भी रहस्यमयी योजना हुई।" तथा भारतेन्दु के कुछेक प्रयोगों पर विचार करते हुए उन्होंने "भारतेन्दु हरिश्चन्द्र" शीर्षक लेख में लिखा है—वे उर्दू कविता के भी प्रेमी थे जिसमें बाह्य प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण की चाल नहीं है और जिसमें कल्पना के सामने आने वाले चित्रों (in anger) के वीभत्स और घिनौने होने की कुछ परवा न कर भावों के उत्कर्ष ही की ओर ध्यान रक्खा जाता है। यदि ऐसा न होता तो—

"फैली है अपजस तुम्हारो भारी
फिर तुमको कोऊ नहिं कहि है मोहन पतित-उधारी
तासों कोऊ विधि कहि लीजिए 'हरीचंद' को तारी ।।"

"मरे हूँ पै आँखैं ये खुली ही रहि जायँगी", ऐसे पद्य वे न लिखते। "यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि उपयुक्त पंक्ति "चन्द्रावली नाटिका" से ही ली गयी है। अतएव उर्दू के कवियों की तरह प्रिय को जालिम-कातिल कहना गुनाह नहीं ❀। यद्यपि पं० रामनरेश त्रिपाठी ऐसे प्रेम को काम की ही कोटि में स्थान देते हैं। हरिश्चन्द्र भी फरमाते हैं—

"दिन कभी न इस खानःख़राब के बदले।
मरना बेहतर है इस इजतिराब के बदले।
हो "हरिचन्द" पर खुश आताब के बदले।
कर अब तो रहम जालिम अजाब के बदले ।।

× × ×

दिल मेरा ले गया दगा करके। बेवफा हो गया वफा करके ।।

× × ×

करि निठुर श्याम सों नेह सखी पछताई।

तुलना—

पाला पड़ा हे मुझको ऐसे बदमिजाज से,
झगड़े तमाम दिन हैं, लड़ाई तमाम रात।
कत्ल भी करते हैं औ कहते हैं कि फरियाद न कर।
जो शक्ल देखो तो भोली भाली, जो बात सुनिए तो मीठी-मीठी,
पै दिल जो पत्थर है कि सिर उड़ादे, जो नाम लीजिए वफा का ।।'

—[नजीर]

उस निरमोही की प्रीति काप नहिं आई ॥
उन पहिले आकर हमसे आँख लड़ाई।
करि हाव-भाव बहु भांति प्रीति दिखलाई" ॥

अत: इन पंक्तियों से यह प्रमाणित हो जाता है कि हरिश्चन्द्र की कविता पर उर्दू की शैली का ही नहीं वरन् विषय का भी प्रभाव पड़ा था। लेकिन हो सकता है कि यह हमारा भ्रम हो। जिस प्रकार सूर आदि के विनय के पदों में आत्म-भर्त्सनादि को देखकर ग्रियर्सन उनपर ख्रिस्तानी मत के प्रभाव का सन्देह करने लगा था, उसी प्रकार चन्द्रावली के इस कोटि के उपालंभों के देखकर लोगों को उनपर मुसलमानी मत के प्रभाव की भ्रांति हो सकती है।

अन्तिम अंक में चन्द्रावली का वियोग योग की श्रेणी में जा पहुँचता है। योगिन वेशधारी श्रीकृष्ण कहते हैं—

पचि करत वृथा सब लोग जोग सिरधारी।
सांची जोगिन पिय बिना वियोगिन नारी ॥
है पंथ हमारा नैनों के पत बाना।
कुल लोक बेद सब औ परलोक पिटाना ॥
शिव जी जोगी को भी जोग सिखाना।
हरिचन्द एक प्यारे से नेह बढ़ाना ॥
ऐसे वियोग पर लाख योग बलिहारी।
सांची जोगिन पिय बिना वियोगिन नारी ॥

नन्ददास की गोपियों से भी श्रीकृष्ण ने इसी प्रकार कहा था—

तुम जु करी सो कोउ न करै सुनि नवल किसोरी।
लोक बेद की सुदृढ़ सृंखला तृन-सम तोरी ॥
तैंहि मग ब्रज तिय चलैं

अन कोउ नहिं अधिकारी ।।"

इतना होने पर भी चन्द्रावली में मर्यादा-बोध है, क्योंकि उनपर ज्येष्ठा राधा जी का अंकुश है—नियन्त्रण है। अन्त में श्रीकृष्ण से चन्द्रावली का मिलन होता है और वे फिर कहते हैं—"यह सब प्रेम की शिक्षा करिबे कों तेरी लीला है।" ललिता भी कहती है—

"सच है, युगल के अनुग्रह बिना इस अकथ आनन्द का अनुभव और किसको है।

प्यारी! मैं निठुर नहीं हूँ· मैं तौ अपने प्रेमिन को बिना मोल को दास हूँ। परन्तु मोहि निह यै है के हमारे प्रेमिन को हम सों हूँ हमारो बिरह प्यारो है, तुम्हीं सों मैं हूँ बचाय जाऊ हूँ।"

हरिश्चन्द्र राधा वल्लभी थे। इस मत के प्रवर्तक हित-हरिवंश हैं और इसके प्रचारक हरि राय व्यास। उन्होंने भी एक "रास पंचाध्यायी" लिखी है, जिसमें वल्लभी सिद्धान्त पर यत्र-तत्र निरूपण किया है। राधा वल्लभी राधा की प्रधान उपासना करते हैं। स्वयं "हरिश्चन्द्र" ने इसे स्वीकार किया है—

सरबस रसिक के दास-दास प्रेमिन के।
सखा प्यारे कृष्ण के गुलाम राधारानी के।

इसीसे विशाखा कहती है—

तो मैं और स्वामिनी मैं भेद नहीं है, ताहू मैं तू रस की पोषक ठहरी।

तथा ललिता के साथ-साथ गाती है।

राधा चन्द्रावली कृष्ण ब्रज जमुना गिरिधर मुखहिं कहौरी।
जनम जनम यह कठिन प्रेम व्रत हरीचंद इक रस निबहौरी ।।"

अस्तु! बाबू साहब का प्रथम आक्षेप निरर्थक एवं निर्मूल सिद्ध होता है क्योंकि साहित्यिक दृष्टि से इसमें कोई अस्वा-

भाविकता नहीं है, जैसा कि चन्द्रावली ने माना है—

रहौं कोऊ काहू मनहि दियें।

मेरे प्राननाथ श्री स्यामा सपथ करौं तिन छियें।

—हित हरिवंश।

"संगीत और साहित्य में भी कैसा गुण होता है कि मनुष्य तन्मय हो जाता है। उसपर जले पर नोन। हाय नाथ ! हम अपने उन अनुभवसिद्ध अनुरागों और बढ़े हुए मनोरथों को किसको सुनावें, जो काव्य के एक-एक तुक और संगीत की एक-एक तान से लाख-लाख गुण बढ़ते हैं और तुम्हारे मधुर रूप और चरित्र के ध्यान से अपने आप ऐसे 'उज्ज्वल सरस' प्रेममय हो जाते हैं, मानों सब प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे हों।" चन्द्रावली की आड़ में यहाँ निःसन्देह हरिश्चन्द्र ही बोल रहे हैं। उज्ज्वल रसवल्लभी साहित्य की देन है। × वल्लभी सम्प्रदाय वाले राधा के माध्यम से श्रीकृष्ण में लीन होना चाहते हैं। ❀ चन्द्रावली जिस प्रकार राधा की अनुमति से श्रीकृष्ण को पा सकीं उसी प्रकार अन्य गोपियां भी उन्हें प्राप्त करेंगी।

वल्लभाचार्य ने अपने शुद्धाद्वैत दर्शन में कृष्ण रूपी ब्रह्म को ही एक मात्र सिद्धार्थ माना है और उनमें गोपी रूपी जीवों का राधा रूपी प्रकृति के माध्यम से निलय होना ही उनके

× यह उज्वल रसपाल कोटि जतन न करि पाई।

सावधान होइ पहिरो इहितेरौ मति कोई॥

❀ एक उपायकौं कमलो सों श्रीमुख यदि सुनाऊं।

पतित उधारन सूर नाम प्रभु, लिखि कागद पहुँचाऊं॥

अनुसार सबसे निःश्रेयस् अर्थात् चरम जीवनोद्देश्य है।* चन्द्रावली नाटक में इसीका प्रदर्शन हुआ है। इसलिए वेदांत की व्यावहारिक तथा पारमार्थिक दृष्टि से "चन्द्रावली नाटिका" अत्यन्त स्वाभाविक है। हरिश्चन्द्र पहुँचे हुए दार्शनिक भक्त थे। इसीसे उन्होंने भक्त-सर्वस्व में चरम-चिह्नों का वर्णन किया है और "चन्द्रावली" के निष्कर्ष-वाक्य में लिखा है-

"काव्य, सरस, सिंगार के दोउ दल, कविता नेय।
जग सजन सों कैईस सों, कहियत जेहि पर प्रेय॥
हरि उपासना, भक्त, वैराग, रसिकता ज्ञान।
सोधैं जग जन मानिया, चन्द्रावलिहि प्रमान॥
रोम-रोम प्रति गोपिका, ह्वै रहे सो बल गात।
कल्प तरू रुह सांवरो, व्रज बनिता भइ पांत॥
उलहि अंग–अंग तें॥

बाबू साहब का दूसरा आक्षेप एक प्रकार से वही है जो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का भारतेन्दु पर है। भारतेन्दु से हम प्रकृति के बिम्ब–प्रतिबिम्ब चित्रण की कैसे आशा कर सकते हैं, जो छायावाद के युग की देन है; पर तो भी भारतेन्दु ने निम्नलिखित कवित्त में उसका पूर्णाभास आवरण दिया है—

"देखि घनस्याम घनस्याम की सुरति करि,
जिय मैं विरह घटा घहरि घहरि उठै।
त्यों ही इन्द्रधनु बगमाल देखि बनमाल,

---

* कहाँ सुख ब्रज को सो संसार।

× × ×

कहं घनस्याम कहां राधा संग, कहां संग ब्रज बाय।
कहां विरह–सुख बिनु गोपिन संग, 'सूर स्याम' काय।

मोतीलर पीकों जिय लहरि-लहरि उठै ॥
हरिचन्द मोर पिक धुनि सुनि बंसीनाद,
बांकी छबि बार-बार छहरि-छहरि उठै।
देखि-देखि दामिनि की जुगुन दमक ·पीत,
पट छोरे मोरे हिय फहरि-फहरि उठै ॥"

इस पद की तुलना हम सूर के उन पदों से कर सकते हैं जिनमें सादृश्य-भावना के चलते गोपियों ने प्रकृति को अपने जीवनकाल का अंग बना लिया है—

आजु घनस्याम की अनुहारि।
गरजत गगन गिरा गोविंद की सुनत भरे बारि।
सूरदास गुन सुमिरि स्याम के बिकल भई ब्रजनारि ॥

अथवा—

"निसि दिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहत पावस रितु हम पै, जब तें स्याम सिधारे ॥

ऐसे ही चित्रण को प्रसाद' ने मानवीकरण द्वारा चरमोत्कर्ष पर पहुँचा दिया है:—

बीती विभावरी जाग री।
अंबर पनघट में डुबो रही तारा घट ऊषा नागरी ॥
अलकों में मलयज बंद किये तू अब तक सोई है आली।
आंखों में भरे विहाग री ॥"

चन्द्रावली में भारतेन्दु ने प्रकृति को मात्र "उद्दीपन" के ही रूप में नहीं ग्रहण किया है। उन्होंने प्रकृति का मानवीकरण भी किया है। इसीलिए वनदेवी, संध्या तथा वर्षा का अवतरण प्रतीक-रूप में हुआ है। आलंबन को उद्दीप्त करने के लिए प्रकृति का उद्दीपन रूप चित्रित करना नाटककार के

लिए आवश्यक है। यह बात दूसरी है कि प्रकृति का आलंबन रूप भी चित्रित किया जा सकता है; पर नाटक के लिए वह अपेक्षित नहीं क्योंकि नाटक में नायक-नायिका की मनोवृत्तियों का विकास दिखाना ही आवश्यक है। फलतः उसमें मानव ही प्रधान रहेगा और प्रकृति गौण अर्थात् उद्दीपन मात्र। लेकिन चन्द्रावली में हरिश्चन्द्र ने प्रकृति का 'उद्दीपन' रूप तो लिया है पर रीतिकालीन कवियों के समान सस्ता तथा छिछला नहीं बनाकर उसके साथ चन्द्रावली के हृदय का सामंजस्य स्थापित करने का उद्योग नहीं किया गया है। चन्द्रावली के कथनोपकथन से बाबू साहब के आक्षेप की तथ्यहीनता सिद्ध हो जायगी—"अरे, यह तो चन्द्रमा था, जो बदली की ओट में छिप गया। हा! हत्यारिन वर्षा ऋतु है, मैं तो भूल ही गई थी। इस अँधेरे में मार्ग तो दीखता ही नहीं, चलूँगी कहाँ और घर कैसे पहुँचूँगी? प्यारे देखो, जो-जो तुम्हारे दिल में सुहावने जान पड़ते थे, वही अब भयावने हो गये। हा! जो बन आँखों से देखने में कैसा भला दीखता था, वही अब कैसा भयंकर दिखायी पड़ता है।" चन्द्रावली की ये पंक्तियाँ हमें सूर, तुलसी, मंडन तथा हरिऔध की कुछेक पंक्तियों की याद दिलाती हैं। जैसे—

मधुवन तुम कत रहत हरे।
विरह वियोग श्याम सुन्दर के ठाढ़े क्यों नज रे।

× × ×

कहेउ राम वियोग तब सीता। को कह सकल भये विपरीता।।
कुबलय विपिन कुते बन सरिता। वारिद तप्त तले जनु बरिसा।।
जे जे सुखद ते ते दुखद कवि मंडन बिछुरे भद्रपती।

मैं पाती हूँ अधिक तुझ में क्यों कई एक बातें।
क्यों देती है व्यथित कर, क्यों वेदना है बढ़ाती॥

इसका तीसरा 'आक्षेप निराधार है। वह 'स्वामिनि' शब्द के प्रयोग के कारण उठाया गया है। वास्तव में 'स्वामिनि' शब्द का उपयोग चन्द्रावली की माता के लिए नहीं वरन् उनकी सौत राधा के लिए हुआ है। विशाखा ने आगे चलकर कहा है—"तो मैं और स्वामिनि में भेद नहीं है।" अतएव बाबू साहब जिस भ्रम में पड़कर भारतेन्दु के आदर्श पर ही कुठाराघात करने चले थे वह कितना हास्यास्पद है। चन्द्रावली में राधा के लिए कहीं तो श्रीमती, कहीं तो प्यारी जू तथा प्रियाजी एवं कहीं-कहीं स्वामिनी शब्द का प्रयोग हुआ है, जो ध्यान में रखने योग्य है।

"भारत-दुर्दशा" और "नील-देवी" की भी उन्होंने इसी प्रकार लचर अलोचना की है। "भारत-दुर्दशा" को समाप्त करने पर इनके हृदय में "नैराश्य का भाव उत्पन्न होता है। अब हमें यह देखना है कि "भारत-दुर्दशा" के अन्त में नैराश्य है या आदि में या आदि-अन्त दोनों में। बाबू श्यामसुन्दर दास ने 'हिन्दी भाषा और साहित्य' नामक पुस्तक में लिखा है—"हिन्दी की ह्रासकारिणी शृंगारिक कविता के प्रतिकूल आन्दोलन का श्रीगणेश उस दिन से समझना चाहिए जिस दिन भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने "भारत-दुर्दशा" नाटक के प्रारम्भ में समस्त देश-वासियों को सम्बोधित करके देश की गिरी हुई अवस्था पर उन्हें आँसू बहाने को आमंत्रित किया था। उस दिन शताब्दियों से सोये हुए साहित्य ने जगने का उपक्रम किया था। उस दिन रूढ़ियों की अनिष्टकर परम्परा के

विरुद्ध क्रांति की घोषणा हुई थी; उस दिन छिन्न-भिन्न देश को एक सूत्र में बाँधने की शुभ कामना का उदय हुआ था; उस दिन देश और जाति के प्राण एक सत्कवि ने सच्चे जातीय जीवन की झलक दिखायी थी और देश के साहित्य ने उसी दिन देखी थी और उसी दिन सुनी थी। टूटी-फूटी शृंगारिक वीणा के बदले एक गम्भीर झंकार, जिसे सुनते ही एक नवीन जीवन के उल्लास में वह नाच उठा था।" जहाँ एक सुर में बाबू साहब अपनी एक पुस्तक "भारत-दुर्दशा" में आशा का संदेश सुनते हैं, वहीं दूसरे सुर में दूसरी पुस्तक में निराशाच्छन्न हो उठते हैं। यह कैसी बात है? यदि "भारत-दुर्दशा के प्रारम्भ के गीत में—

> रोवहु सब मिलि के आवहु भारत भाई।
> हा हा! भारत-दुर्दशा न देखी जाई॥

बाबू साहब को निराशा के बीच भी आशा की किरण दीख पड़ती है तो फिर अंतिम अंक के निम्नलिखित में कैसे आशा के बीच निराशा की झलक दीख पड़ी--

> जागो-जागो रे भाई।
> सोअत निसी वैस गंवाई! जागो जागो रे भाई॥

इसमें सन्देह नहीं कि नाटक की समाप्ति के अवसर पर भारत-भाग्य कटार से छाती पर आघात करता है; पर इससे निराशा के वातावरण का कैसे सृजन होता है? अगर बाबू साहब का कथन सत्य है, तो सभी दुखान्त नाटकों में निराशा का ही प्रादुर्भाव होता; पर ऐसा नहीं दीख पड़ता। 'जियेंगे तो और भी लड़ेंगे' कहना ठीक है; पर क्या मनुष्य मरकर

अपने आदर्शों को मिटा देता है? मृत्यु को यदि हम इतने सीमित रूप में ग्रहण करेंगे, तो जीवन के महत्त्व को अपनाने से सर्वथा वंचित रह जायेंगे। रोम्याँ रोलाँ ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास "जाँ क्रिस्तोफ" में नायक की मृत्यु पर जो उद्‌गार प्रकट किया है वह बड़ा ही आशाजनक है। उनका कहना है कि मानव तो मर जाता है; पर उसके आदर्श अमर हो जाते हैं जिसे मानवता युग-युगों तक ढोती रहती है। भारत-भाग्य तो एक प्रतीक ही है।

नील देवी के विषय में आपने कहा है—इससे तो केवल प्रतिहिंसा के भाव को उत्तेजना मिलती है। "अन्यत्र उन्होंने लिखा है—"इसी प्रकार नील देवी के सातवें अंक में" सब भाँति दैव प्रतिकूल होइ एहि नासा" आदि पंक्तियों उन्होंने भारतवर्ष की वर्त्तमान और भावी अवस्था का कैसा हृदय-विदारक चित्र अंकित किया है। जब मनुष्य सब ओर से हार जाता है तब उसका ध्यान दीन-दुखियों के एक मात्र आश्रय परमेश्वर की ओर जाता है और वह उसकी शरण में जाकर प्रार्थना करता है।"

आचार्य शुक्ल ने भी लिखा है—"राजा सूरजदेव के मारे जाने पर रानी नीलदेवी ने जिस रीति से भगवान् को पुकारा है, वह कोई नयी नहीं है। यह वह रीति है जिससे द्रौपदी ने भगवान् को पुकारा था। भेद इतना है कि द्रौपदी ने अपनी लज्जा रखने के लिए, अपना संकट हटाने के लिए, पुकार मचायी थी; नीलदेवी ने देश की लज्जा रखने के लिए, देश का संकट दूर करने के लिए पुकारा है—

"कहाँ करुनानिधि केसव सोए।

निस्सन्देह इससे विश्वभाव एवं भारतीयता का उत्थान हुआ है। श्री शांतिप्रिय द्विवेदी ने भारतेन्दु की तुलना बंकिम से की है—भारतेन्दु और बंकिम, दोनों का दृष्टिकोण एक ही है—भारतीयता का उत्थान। भारतेन्दु ने अपने दृष्टिकोण को नाटकीय रूप दिया और बंकिम ने औपन्यासिक। अंतिम दिनों में भारतेन्दु की रुचि भी उपन्यास-लेखन की ओर प्रेरित हुई थी। × × × × परन्तु, भारतेन्दु एक तो अल्पकाल में ही चल बसे, दूसरे हिन्दी समाज की शिराओं में अभीतक साहित्य का स्वाभाविक प्रेम-प्रवाह नहीं प्रवाहित हो सका है। इन कारणों से भारतेन्दु का साहित्य पूर्णरूपेण बंकिम जैसा लोक-प्रिय नहीं हो सका। तो भी, अपने अल्पवय में ही भारतेन्दुजी हमारे साहित्य में अपनी चतुर्मुखी प्रतिभा का देदीप्यमान परिचय दे गये हैं।" किन्तु डॉ० रामविलास शर्मा ने हरिश्चन्द्र को बंकिमचन्द्र से श्रेष्ठ प्रमाणित किया है। उन्होंने "भारतेन्दु-युग" में लिखा है—"बंगाल में सबसे अधिक क्रांतिकारी रचना "आनन्द मठ" की भूमिका में बंकिमचन्द्र ने लिखा था कि बंगालियों की लड़ाई मुसलमानों से है न कि अंग्रेजों से। बंकिमचद्र में भावुकता है, पुरातन से प्रेम है, परन्तु यह नवचेतना नहीं है। उन्होंने पुलिस और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के कानून पर कलम नहीं उठायी।" यदि भारतेन्दु ने "नीलदेवी" में मुसलमानों की निन्दा भी की है, तो वह उनकी जाति अथवा धर्म के कारण नहीं वरन् उनके अन्याय और आक्रमणकारी आचरण के कारण—

अब तबहु वीरवर भारत की सब आसा॥

उठहु वीर तरवार खींचि मारहु घन संगर।
लोह-लेखनी लिखहु आर्यबल जवन हृदय पर।

× × ×

घन मेह नासहिं आर्य नीच जवनन कँह करि छय।
कहहु सबै भारत जय भारत जय, भारत जय॥

तब फिर भारतेन्दु ने ऊपर लिखित पंक्तियाँ क्यों लिखीं? इसका कारण उन्होंने "नीलदेवी" में ही दिया है—

काहे पंजाब से सब हिंद की उम्मीद हुई।
मोमिनो नेक य आसार मुबारक होय॥
हिन्दू गुमराह हों बेजर हों, बने अपने गुलाम।
हमको ऐशो तरबोतार मुबारक होय॥

इसीसे उन्होंने मुसलमानों की बुराई की है। अन्यथा उन्होंने क्या अपनी कविता में, क्या अपने भाषण में और क्या अपने निबंध में सर्वत्र अंग्रेजों की ही खबर ली है। और वह भी बड़ी ही शिष्ट एवं सरल भाषा में—सो भी व्यंग्य की आड़ लेकर। भारतेन्दु की इस आडम्बरहीन कला का उद्‌घाटन करते हुए प्रो० विश्वनाथ प्रसाद ने अपने निबंधों में व्यक्त किया है कि 'कला की यह सचाइ और सफाई भारतेन्दु के निबंधों में भी खूब निखरी हुई है। वैसे आत्माभिव्यन्जनपूर्ण प्रत्येक ढंग के विनोदात्मक निबन्ध भारतेन्दु और भारतेन्दु-मंडली के बाद हिन्दी में प्रायः दुर्लभ हो गये। ......निबंधों के नये आदर्शों के अनुरूप वे नहीं उतरे। यूरोपीय साहित्य में फ्रेंच लेखक मांटेन से निबंधों की जो एक नयी परिपाटी चली थी, जिसकी सबसे बड़ी विशेषता थी उसमें निबन्धकार की आत्मीयता की छाप (Personal Touch), उसके हृदय की

सचाई की निवृत्ति, उसका समाँ भारतेन्दु के ही निबन्धों में हिन्दी में प्रथम-प्रथम बँधा था।

रामविलासजी भी आपसे सहमत दीख पड़ते हैं—"जितनी सफलता भारतेन्दु-युग के लेखकों को निबंध-रचना में मिली, उतनी कविता और नाटक में भी नहीं मिली। इसका एक कारण यह था कि पत्रिकाओं में नित्य प्रति निबंध लिखते रहने से उनकी शैली खूब निखर गयी थी। दूसरी बात यह कि निबंध ही एक ऐसा माध्यम था जिसके द्वारा उस युग के फक्कड़ लेखक बेतकल्लुफी से अपने पाठकों से बात करते थे। × × साहित्य की सच्ची सप्राणता उसी शैली में है जहाँ लेखक और पाठक के बीच दुराव नहीं रह जाता। सहज आत्मीयता के भाव ने भाषा को खूब स्वाभाविक बना दिया। कृत्रिमशैली में लेखक, पाठक का आत्मीय बन ही नहीं सकता। इसीलिए भारतेन्दु-युग की गद्यशैली के सबसे चमत्कारपूर्ण निदर्शन निबन्धों में ही मिलते हैं।"

इसके पूर्व हमने देखा है कि भारतेन्दु का साहित्य व्यक्ति-प्रधान नहीं है। अपनी कविताओं, नाटकों और अन्य विषयों द्वारा उन्होंने समाज की अमूल्य सेवा की है। हम उनकी कृतियों में सर्वदा समाज के जीवन और जाग्रति का स्पन्दन अनुभव करते हैं। साथ ही, हम यह भी देखते हैं कि भारतेन्दु एक गंभीर लेखक, कवि और वक्ता हैं। उनकी समस्त रचनाएं अनुकृत हैं; यदि कहीं-कहीं उनकी कविताओं में प्रगीतात्मकता है भी तो वह बहुत अधिक व्यक्ति-प्रधान नहीं है—उसमें भी 'सकल सहृदय-हृदय-संवाद' का आधिक्य है। तो फिर भारतेन्दु अपने निबन्धों में इस अभिनव रूप में कैसे उतर सके? क्या उनकी विविध कलाकृतियों में स्वर-सामञ्जस्य नहीं

है ? इसमें सन्देह नहीं कि आधुनिक व्यक्तिगत-निबन्ध लेखकों के निबन्ध उनकी आत्मनिष्ठ भावनाओं से ओतप्रोत हैं—कहीं-कहीं तो यह अहम्मन्यता की सीमा भी पार कर गया है। साथ ही, उनके निबन्ध आडम्बर, शब्द-जाल तथा शैलीगत प्रवंचनाओं से भाराक्रान्त हैं; पर मौंटेन के निबन्धों में यह बात नहीं है। मौंटेन स्वयं एक नीति-शास्त्री था। उसने अपने निबन्धों में गंभीर विषयों को शास्त्रीय ढंग से सुलझाने का प्रयास नहीं किया है। वह जनता के हृदय तक पहुँचना चाहता था। इसीलिए उसने सरल विषयों का बड़ी ही आत्मीयता के साथ अपने निबन्धों में प्रतिपादन किया है। पीछे के खेवे के व्यक्तिगत निबन्धकारों की, जैसे चेस्टरटन, गार्डनर इत्यादि यह आत्मीयता अहम्मन्यता में बदल गयी है और उनके निबंधों के विषयों की सरलता शैली की क्लिष्टता में क्षतिपूर्त्यर्थ परिणत हो गयी है। उसी प्रकार कैरोल, जो एक धर्म-शास्त्री था, वह अपनी कृतियों में क्रीड़ात्मक विधानों को अपनाता है इससे यह बोध होता है कि गंभीर लेखक भी अपने किसी-किसी क्षेत्र में सरल, सुबोध तथा विनोदात्मकरूप में उपस्थित होता है। भारतेन्दु अपने निबन्धों में इसीलिए इन रूपों में प्रकट होते हैं। अपने निबंधों में वे आत्मनिष्ठ भावनाओं से पाठकों को अभिभूत करना नहीं चाहते। मौंटेन की तरह वे भी जनसम्पर्क कायम करना चाहते हैं, इसीलिए उन्होंने निबन्धों को यह नया रूप प्रदान किया है। अत्मीयता का माध्यम अपने व्यक्तित्व-प्रदर्शन के लिए नहीं चुना गया है, वरन् वह तो उनकी शैली का एक अनिवार्य अंग बन गया है। इसीसे उनके निबन्धों में आत्मीयता का यह रूप साध्य नहीं है; वह तो मात्र साधन है। ग्रे की तरह वे प्रगीतों के मार्ग का अनुसरण करके भी अपने व्यक्तित्व

को छिपाना ही चाहते हैं। यहाँ भी हम उनके आत्मानुभवों की अभिव्यक्ति में विरोधाभास पाते हैं। यह विरोधाभास छायावादियों की तरह शैलीगत नहीं है; यह तो भावगत है। घनानन्द की शैली के विरोधाभासों को रत्नाकरने अपनाया; पर भावो के विरोधाभासों का उत्तराधिकार भारतेन्दु के ही हिस्से में पड़ा, जिसे आगे चलकर माखनलाल तथा दिनकर ने अपनाया और जिसका डंका आज प्रगतिवादी पीट रहे हैं। ❀

वास्तव में भारतेन्दु रीतिकाल और आधुनिक काल के सीमाधिष्ठित कवि ही नहीं है, वरन् उनकी रचनाओं में सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य का समस्त युग बोल रहा है। आप खुसरो की मुकरियों को उनकी ग्रन्थावली में पायेंगे। सूर, तुलसी का भक्ति-गीत उनकी 'प्रेम फुलवारी'' में तथा देव, पद्माकर और द्विजदेव का शृंगार-विलास उनकी "प्रेम-माधुरी" में देख सकेंगे।

❀क्योंकि—उन्मादक मीठे सपने ये, ये न अधिक अब ठहरें,
साक्षी न हों, न्याय मंदिर में कालिन्दी की लहरें।

❀ ❀ ❀

डरती हूँ दिखलायी पड़ती तेरी उसमें वंशी,
कुंज कुटीरे, जमुना तीरे तू दिखता यदुवंशी॥

× × ×

तू पूछ अवध से राम कहाँ? वृन्दा, बोलो घनश्याम कहाँ?
ओ मगध! कहाँ मेरे अशोक? वह चन्द्रगुप्त बलधाम कहाँ?
—[हिमालय]

देखा शून्य कुंवर का गढ़ है, झांसी की वह शान नहीं है;
दुर्गादास, प्रताप बली का प्यारा राजस्थान नहीं है;—
—[वसंत के नाम पर]

*भारतेन्दु की कला में प्रगीत-कला का हाथ नहीं है जैसा डॉ० शर्मा समझते हैं, उनकी कला में सच्चा संगीत है इसीलिए उसमें लोक-कल्याण का भाव सन्निहित है। अनुकृत कला की यही सबसे बड़ी विशेषता है। इस कला का कलाकर अपने को सभी मानव-परिस्थितियों में रखकर उसके अनुरूप भावों का अनुभव कर सकता है; पर प्रगीत-कला का पथिक व्यक्तित्व-प्रदर्शन तक ही सीमित रहकर अपना संकीर्ण कार्य-क्षेत्र भूल जाता है। भारतेन्दु ने अपने व्यक्तित्व को विश्व-बंधुत्व में विलीन कर दिया है।

राजा शिवप्रसाद "सितारे हिन्द" उर्दू-प्रधान हिन्दी लिखने के पक्षपाती थे तथा राजा लक्ष्मण सिंह संस्कृतप्राय हिन्दी को ही साहित्य का माध्यम बनाना चाहते थे। दोनों राजा थे, इसलिए सरकार के कृपापात्र भी थे। पर "सितारे हिन्द" शिक्षा-विभाग में काम करते थे, इसलिए सरकार ने उन्हीं की भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाना चाहा। लेकिन

---

* उजरनि वसी है हमारी अंखियानि देखौ,
सुदस सुदेस जहाँ रावरे बसत हौ।
—[घनानंद]

एक मन मोहन तौ बसिकै उजार्‌यौ
मोहि, हिय में अनेक मन मोहन बसावौ ना।
—[रत्नाकर]

सारी रात मोहें संग जागा, भोर हुआ तो बिछुरन लागा,
उसके बिछुरे फाटत हीया, का सखि साजन नहिं सखि दीया॥"
—[खुसरो]

भारतेन्दु दोनों में से एक को मीर घाट तथा दूसरे को तीर घाट नहीं जाने देना चाहते थे क्योंकि इन दोनों मुल्लाओं के बीच हिन्दी रूपी मुर्गी हलाल हो रही थी। फलत भारतेन्दु को मध्य का मार्ग ग्रहण करना पड़ा। इससे यही प्रतीत होता है कि निश्चय ही भारतेन्दु एक समन्वयवादी मनीषी थे। क्या भाषा, क्या भाव, क्या विचार, क्या आचार सभी क्षेत्रों में आपने समन्वयवादी दृष्टि को अपनाया। एक ओर तो आप पहुँचे हुए भक्त थे, दूसरी ओर आप एक कट्टर समाज-सुधारक भी थे। "जैन-कुतूहल" लिखकर तथा "तदीय समाज' की स्थापना करके आपने अपने आचार तथा बलिया के भाषण तथा अपने निबन्धों द्वारा विचार एवं राजभक्ति सम्बन्धी समस्यापूर्त्ति रचकर अपने मनोविकार में समन्वय उपस्थित करना चाहते थे। यह बात दूसरी है कि लोगों ने इनकी इन सभी कृतियों में विरोध पाया; पर यह तो हम लोगों का दोष था कि हम भारतेन्दु की प्रतिभा की थाह नहीं पा सके। ठीक उसी प्रकार उन्होंने भाषा में भी समन्वय उपस्थित करने का जी तोड़ परिश्रम किया। एक ओर तो वे "इंसा" के उपनाम से उर्दू में शायरी करते थे और वे बन्दर सभा तथा उर्दू का स्यापा लिखकर उर्दू का उपहास भी करते थेः—

उद्धरण—

तीन बुलाए तेरह आवैं, 'निज-निज बिपता रोय सुनावैं।
आखौं फूटे भरान पेट, क्यों सखि सज्जन नहिं ग्रेजुएट॥

—[भारतेन्दु]

आजु भर हौं नन्द भवन में, कइहा कहौं गृह चैन री।
बहु संग चतुरंग ग्वाल बाल तेह, कोटिक दुहियत धेनु री।

—[सूर]

है है उर्दू हाय हाय! कहां सिधारी हाय हाय ॥
मेरी प्यारी हाय हाय! मुंशी मुल्ला हाय हाय ॥
वल्ला दिल्ला हाय हाय! रोयें पीटैं हाय हाय ॥

एक ओर हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान देते थे दूसरी ओर संस्कृत में लावनी लिखते थे तथा बंगला, गुजराती, मारवाड़ी तथा अंग्रेजी में कविता करते थे। आखिर भाषा-सम्बन्धी उनकी नीति क्या ढुलमुल थी? या आप इन विरोधों के बीच सामंजस्य का स्वप्न देखते थे? हिन्दी के सर्वांगीण

अवधेस के द्वारे सकारे गई, सुत गोद में भूपति लै निकसे।
अवलोकिहौ सोच विमोचन सी ठगी-सी रहे जे न ठगे धिक से ॥
—[तुलसी]

नन्द-भवन हौं आजु गई हो भूले ही उठि भोर।
जागत समय जानि मंगल-मुख निरखत नन्द किशोर ॥
—[भारतेन्दु]

फहरि फहरि भीनी बून्द हैं परति मानो,
घहरि घहरि घटा घेरी है गगन में।
—[देव]

"छानत छबीले छिति छहरि छरा के छोर,
भोर उठि आई केलि-मन्दिर के द्वार पर"
—[पद्माकर]

घहरि घहरि बन सघन चहूँधा फेरि,
छहरि छहरि विष-बून्द बरसावे ना।
—[द्विजदेव]

देखि घनस्याम घनस्याम की सुरति करि,
जिय में विरह घटा घहरि घहरि उठे,
—[भारतेन्दु]

विकास के लिए सभी भारतीय भाषाओं से शब्द ले-लेकर इसका परिपोषण करना उस युग केलिए अत्यन्त आवश्यक था। जबकि खड़ी हिन्दी वेगसहित अपने रूप का ही निर्माण कर रही थी तब उसकी गति को अनायास स्थिर भी कैसे किया जा सकता था? "सितारे हिन्द" खटकने वाली उर्दू प्रधान हिन्दी के प्रचलन के पीछे लट्ठ लेकर तैयार हो गये थे और अपने अधिकार का दुरुपयोग कर रहे थे, उस समय भारतेन्दु ने अगर निम्नलिखित उद्‌गार व्यक्त किया तो वह उनकी भाषा-सम्बन्धी नीति पर कीचड़ नहीं उछालता है—

भोज मरे अरु बिक्रमहू किनको अब रोई कै काव्य सुनाइए।
भाषा भई उरदू जग की अब तो इन ग्रन्थन नीर डुबाइए।
राजा भये सब स्वारथ पीन, अमीर हू हीन किन्हें दरसाइए।
नाहक देनी समस्या अबै, यह ग्रीषमै प्यारे हिमन्त बनाइए।

यदि आज पाकिस्तान नहीं बनता, तो हिन्दी का रूप हिन्दुस्तानी अर्थात् उर्दू में बदल जाता और तब राजा शिव प्रसाद 'सितारेहिन्द' का ही स्वप्न सत्य में परिणत होता; पर भारतेन्दु सर सैयद अहमद की नब्ज टटोल चुके थे। गार्सां द तासी के विचारों से परिचित हो चुके थे तथा बेली की तथा-कथित गवेषणाओं का परिणाम जानते थे। इसीसे उन्होंने डंका पीटकर हिन्दी का रूप समन्वयवादी रंग और रेखाओं से सम्पन्न करके निखारा जिसके कारण हिन्दी की वाटिका आगे चलकर फूली-फली। किसी कवि ने ठीक ही कहा है—

लाल करि जेहि अंकुरित, शिव प्रसाद द्वै पात।
कुसुमित भारतेन्दु ने, रचना रचि विर जात॥"

अतएव यहाँ भी हम भारतेन्दु की भाषा और शैली

सम्बन्धी नीति में विरोध नहीं वरन् विरोधाभास पाते हैं क्योंकि चातुर्य कविने कान इसी तरह ऐंठकर तथा प्रचार कर हिन्दी-उर्दू के दोनों छोरों को मिलाने में सफलता पायी थी। * इस प्रकार उन्होंने अपनी दूर दृष्टि से खड़ी बोली के गद्य-पद्य का निर्माण तथा भारत का कल्याण किया। पिंकाट साहब का यह कथन आज सचमुच सार्थक ज्ञात होता है—

श्री युत सकल कविंद-कुल नुत बाबू हरिचंद।
भारत-हृदय-सतार-नम उदय रहो जनु चँद॥

श्रीधर पाठक ने भी क्या ठीक भविष्यवाणी की थी—

जब लौं गुन आगरी नागरी आरज बानी।
जब लौं आरज बानी के आरज अभिमानी।
तब लौं यह तुम्हारो नाथ! यह चिरजीवी रहिहैं अटल।
नित चंद सूर सम सुमिरिहैं हरिचंदहुँ सज्जन सकल॥

किसी ने हृदय से गाया है—

कोऊ ना दिखात नेक हिन्द में समझदार,
जैसी हरिचंद केरि कीरति छितै गयी।
तैसे नैन लखब सुस्याम घुंघराले बाल;
हाय नागरी के नाह छाड़ि के कितै गयो॥"

क्या इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि खिस्तान, हिन्दू और मुसलमान तीनों ने हरिश्चन्द्र को अपना विरोधी नहीं

---

* कहाँ होय हमारे राम प्यारे। किधर तुम छोड़कर हमको सिधारे॥
बुढ़ापे में य दुःख भी देखना था। इसी के देखने को मैं बचा था।
पाई है कहां सुन्दर व मूरतें। दिखादो साँवली सी मुझको सूरत॥
छिपे हो कौन से पर्दे में बेटा। निकल आवो कि अब मरता है बुढ्ढा॥

अपितु बंधु समझा और उन्हीं से हिन्दी भाषा और साहित्य की भलाई की आशा की। यदि इसके विपरीत बात होती तो कभी भी इनके हृदयोद्गारों में यह साम्य नहीं पाया जाता। स्वयं भारतेन्दु ने अपने विषय में केवल यही नहीं कहा है कि—

कहैंगे सबै नैनन नीर भरि-भरि,
प्यारे हरिचंद की कहानी रहि जायगी।

वरन् उन्होंने जिस सचाई के साथ अपना निम्नलिखित परिचय दिया है—

सेवक गुनी जन के, चाकर चतुर के हैं,
कविन के मीत चित हित गुनगानी के।
सीधेन सों सीधे, महा बाँके हम बांकन सों;
'हरीचंद' नगद दमाद अभिमानी के॥
चाहिबे की चाह; काहू की न परवाह,
नेही, नेह के दिवाने सदा सूरत निवानी के।
सरबस रसिक के; दास परम प्रेमिन के,
सखा प्यारे कृष्ण के, गुलाम राधारानी के॥

उसी आत्मबल के साथ आपने भर्त्सना तथा काव्य प्रशस्ति भी लिखी है—

नहि तो समरथ यह कहाँ हरिजन गुन सक भाप।
ताहू मैं 'हरिचंद' सो पामर है केहि भाप॥
जगत जाल में नित बंध्यो पर्यौ नारि के फंद।
मिथ्या अभिमानी पतित झूठो कवि हरिचंद॥
जिन गिरिधर दास कवि रचे ग्रंथ चालीस।
तासुत श्री हरिचंद को कौन नवावे सीस॥

तृन सम जान्यो जगत को, अपने प्रेम प्रभाव।
झरि गुलाब सों आचमन लीजत वाको भाव॥
परम प्रेम-निधि रसिकवर अति उदार गुन खान।
जन-जन रंजन आशु कवि को हरिचंद समान॥
चन्द टरै सूरज टरै, टरै जगत को नेम।
पै दृढ़ श्री हरिचन्द को, टरै न निश्चय प्रेम॥

—::०::—

प्रियप्रवास : महान् काव्य

रचकर प्रिय, कहीं हम दोनों विधि विरुद्ध षड्यंत्र,
उसकी दुःखपूर्ण रचना पर पा लें विजय-वशीकर मंत्र
तो टुकड़े-टुकड़े कर उसके, जितना संभव हो उतना,
क्या फिर उसको बना न लें हम इच्छा के अनुसार स्वतंत्र।

—उमर खैयाम: अनु० मै० श० गुप्त

[जब कभी हमारा ध्यान "प्रियप्रवास" की ओर जाता है तब हम उसके रचयिता की महान् प्रतिभा पर मंत्रमुग्ध-से हो जाते हैं ! जो कवि

कहते इसे गिलहरी हैं सब
सभी निराले इसके हैं ढब।

—जैसी सरल सुन्दर पंक्तियाँ बच्चों के लिए लिख सकता है, क्या वही साहित्य के विद्यार्थियों की सौन्दर्यानुभूति की परितृप्ति के लिए 'प्रियप्रवास' सदृश अनुपम महाकाव्य की रचना कर सकता है ? यह, एक ऐसा सहज प्रश्न हमारे मन में अनायास उठता है, जिसके उत्तर की अपेक्षा नहीं। आज से ठीक बीस वर्ष पूर्व हमने निम्नांकित अपूर्व पदों का अध्ययन किया था—

प्रिय पति, वह मेरा प्राण प्यारा कहाँ है,
दुख जलनिधि-डूबी का सहारा कहाँ है ?
लख मुख जिसका मैं आज लौं जी सकी हूँ
वह हृदय हमारा नैन—तारा कहाँ है ?

और तब से अब तक 'क्षणे क्षणे जन्नवता मुपैति तदेव रूपं रमणीयताया' के अनुसार ये हमारे हृदय में नित्य नूतन आनन्द की धारा बहा रहे हैं। उसके लगभग दस-बारह वर्ष के पश्चात् हमें 'प्रियप्रवास के सम्यक् एवं स्वतंत्र स्वाध्याय का अवसर श्रद्धेय प्रो० (अब डॉक्टर) धर्मेन्द्र ब्रह्मचारीजी शास्त्री के अध्यापन में मिला। शायद उसी साल उनकी समीक्षा-पुस्तक

"महाकवि 'हरिऔध' का 'प्रियप्रवास'' प्रकाशित हुई। इस ग्रंथ के अध्ययन के उपरांत हमारी वही अवस्था हुई जो एक युग पहले चैपमेंस के 'होमर' पढ़ने के बाद कीट्स की हुई थी। ❀ कहने का तात्पर्य यह है कि 'प्रियप्रवास' के अंतरंग और बहिरंग सौन्दर्य-दर्शन का प्रभाव हमारे ऊपर उस समय इतना गहरा पड़ा कि हम आज तक उससे प्रभावित हैं। अत: सम्प्रति इस निबंध में उसी विशेष प्रभावोत्पादक दृष्टि का संक्षिप्त परिचय देने का प्रयत्न किया गया है।]

'प्रियप्रवास' की अत्यंत प्रशंसा करते हुए डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी ने अपनी पुस्तक के आरम्भ में यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि लक्षण-ग्रंथों में वर्णित महाकाव्य की परिभाषा के अनुसार प्रि० प्र० अवश्य ही खड़ी बोली का एक सफल महाकाव्य है। इतना ही नहीं, उन्होंने प्रो० भुवनेश्वर नाथ मिश्र 'माधव' के कथन से सहमत होकर अपने निष्कर्ष

❀ Oft of one wide expanse had I been told
That deep–browed Homer ruled as his demesne,
Yet I did never breathe its pure serene
Till I heard Chapman Speak out loud and bold,
Then felt I like some watcher of the skies
When a new planet swims into his ken.

JOHN KEATS.

को पुष्ट भी किया है * लेकिन जहाँ पर इस काव्य में प्रयुक्त छन्दों के समावेश का प्रश्न उठता है वहाँ पर वे निम्नलिखित विचार प्रकट करते हैं :—

"संस्कृतवृत्तता और भिन्नतुकान्तता, ये दोनों लगभग एक ही घटना के दो पक्ष हैं, और दोनों में अन्योन्याश्रय–सम्बन्ध-सा है। कारण यह है कि प्रत्येक भाषा की एक विशिष्ट गति-विधि और विशिष्ट प्रतिभा (Genius) होती है। इस सिद्धांत के अनुसार संस्कृत और हिंदी की भी अपनी-अपनी प्रतिभा है,—संस्कृत संश्लेषणात्मक है अर्थात् विभक्ति-प्रत्यय-विभूषित और समास-संधि-प्रधान है तो हिंदी विश्लेषणात्मक अर्थात् समास-संधि तथा प्रत्यय और विभक्ति की जटिलता से शून्य। ऐसी दशा में संस्कृत ने शताब्दियों से जिस विशिष्ट प्रकार के वृत्त का जिस ढंग से प्रयोग किया है उस वृत्त और उस ढंग को हिंदी के लिए उपयुक्त बनाना युक्तिसंगत नहीं दीखता, प्रभृति।" अपने मत के समर्थन में उन्होंने सिड्नी ली की इन पंक्तियों का उद्धरण दिया है जिनका उपयोग उसने अंग्रेजी कवि स्पेंसर के 'फेयरी क्वीन' की आलोचना के प्रसंग में किया है—

---

* उपरिनिर्दिष्ट विचारधारा से यह सिद्ध हो जाता है कि "हरिऔध" ने 'प्रियप्रवास' के निर्माण के समय, महाकाव्य की जितनी भी विशेषताएँ हैं उनको समाविष्ट करने की चेष्टा की है और इसमें उन्हें पर्याप्त सफलता मिली है। श्री भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' ने 'माधुरी' (वर्ष ११, खण्ड १, सं० ३) में 'महाकवि हरिऔध' शीर्षक एक निबंध लिखा था। ....यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि हिन्दी की वर्त्तमान परिस्थिति में 'महाकाव्य' की दृष्टि से 'प्रियप्रवास' अपने जैसा आप ही है। पृ० १७।

"स्पेंसर ने अपने उद्धक प्रथम प्रयास द्वारा कला और प्रकृति के एक बड़े नियम को भंग करना चाहा था और, अंग्रेजी के छंदों में विरोधी और विजातीय पिंगल (लैटिन) के नियमों को ठूसने का असफल दुष्प्रयत्न करके अपनी प्रतिभा के प्रति महान् अन्याय करना चाहा था।" निःसन्देह उनका यह तर्क अकाट्य है; परन्तु आगे चलकर उन्होंने स्वयं लिखा है--

'·भाषा की भावानुरूपता का एक विशिष्ट निदर्शन हम स्थल-स्थल पर 'हरिऔध' के छंदों के परिवर्त्तन में भी पाते हैं। उदाहरणतः—चतुर्थ सर्ग के आरम्भ में जहाँ तीन द्रुत विलम्बितों के बाद पाँच शार्दूल विक्रीड़ित हैं और फिर द्रुत विलम्बितों का सिलसिला जारी हो गया है, वहाँ शार्दूल विक्रीड़ितों की विशेष उपयुक्तता अनायास हृदयंगम हो जाती है, क्योंकि वे राधा के चरित्र का एक संक्षिप्त किन्तु पूर्ण चित्र आँखों के सामने उपस्थित कर देते हैं। द्रुत विलम्बितों के बीच इस पद्य पंचक की वही सुन्दरता है जो किसी दिग्दिगन्त-विस्तृत महासागर में एक छोटे-से शस्य-श्यामल द्वीप की। उसी प्रकार त्रयोदश सर्ग के अन्त में बहुत-सी मालिनियों के बाद का एकमात्र द्रुत विलंबित उनमें गुंफित व्यथा-कथा के अवसान को सूचित करने के साथ ही साथ यह भी व्यञ्जित करता है कि वह व्यथा-कथा और वह सर्ग—दोनों अति-शीघ्रता से और आकस्मिक रूप से अन्त हो जाते हैं तथा वहाँ की एकत्रित जनमंडली भी विसर्जित होती है--

कथन यों करते व्रज की व्यथा
गगन मंडल लोहित हो गया।
इसलिए बुध उद्धव को लिये
सकल गोप गये निज गेह को॥ १३। ११६

"मालिनी से द्रुत विलंबित छोटा छंद है, मालिनी का चरण पन्द्रह वर्णों का है, और द्रुत विलंबित का केवल बारह वर्णों की। उधर अस्ताचल की ओट में छिपने के पहले सहसा रश्मि की भी किरणें मंद पड़ ही जाती हैं। छंदों की गति की कलात्मकता के उदाहरणस्वरूप अन्य कई स्थल रसज्ञ और कलाविद् पाठक स्वयं ढूँढ़ निकाल सकेंगे।"

अतएव उपर्युक्त संदर्भ से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'हरिऔध' जी ने प्रि० प्र० में संस्कृत के छंदों को स्थान देकर उसके सौंदर्य की रक्षा एवं वृद्धि हो की है, क्योंकि जो बात स्थल विशेष पर लागू है वही पूर्ण विषय पर भी। छंदों के क्षेत्र में अंश और पूर्ण अभिन्न हैं। आई० ए० रिचर्ड्स ने अपनी "साइन्स एण्ड पोएट्री" शीर्षक पुस्तिका में कविता की सफलता का प्रथम सोपान उसके छंद के ढाँचे की पूर्णता को माना है। उसके कथनानुसार सबसे पहले कविता की लय ही पाठकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करती है। फलतः काव्य के क्षेत्र में छंदों के साँचे में अपने क्रमबद्ध समस्वर भावों को ढालकर उन्हें एक पूर्ण मूर्त्त रूप प्रदान करना ही कवि का कर्म है। इस दृष्टि से काव्य के अंश का सौंदर्य पूर्ण को ही प्रोद्भासित करता है। परिणामत: 'प्रियप्रवास' का सम्पूर्ण छंद-विधान 'हरिऔध' की सम्पूर्ण अनुभूति को अभिव्यक्त करने में समर्थ है। शुक्लजी के शब्दों में भी 'हरिऔध' जी को प्रि० प्र० की रचना में सफलता मिली है। × तब बाकी रही

× बड़ी भारी विशेषता इस काव्य की यह है कि यह सारा संस्कृत के वर्णवृत्तों में है जिसमें अधिक परिमाण में रचना करना कठिन काम है............... ।

—हि० सा० का इ०, पृ० ६७८।)

संस्कृत की संश्लेषणात्मक तथा हिन्दी की विश्लेषणात्मक प्रतिभा की बात। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा खड़ी बोली हिन्दी को संस्कृत के कुल की एक विश्लेषणात्मक भाषा मानते हैं तथा डॉ० मंगलदेव शास्त्री के अनुसार भी हिन्दी संस्कृत का एक विकसित रूप है। इसीसे इसकी प्रवृत्ति विश्लेषणात्मक है। कोई भी विकासोन्मुख भाषा आरम्भ में संयोगावस्था में रहा करती है, पीछे चलकर वह वियोगावस्था को प्राप्त करती है। परन्तु इस अवस्था को पार कर वह, फिर संश्लेषणात्मक रूप धारण करने लगती है। यहाँ तक कि बच्चों की प्रारम्भिक तुतली बोली में भी संश्लिष्ट प्रवृत्ति का आभास मिलता है जैसे, बच्चे द्वारा बोला गया 'गाय' शब्द का स्फुट (explicit) रूप "गाय मारेगी" या "गाय आ रही है" प्रभृति होगा। दूसरी ओर बँगला आदि विकसित भाषाएँ पुनः संश्लेषणात्मक होती जा रही हैं जैसे, इसकी 'करितेछि' क्रिया के स्थान पर 'कच्चि' एवं 'जाइतेछि' के स्थान पर 'जाच्चि' इत्यादि क्रियाओं का प्रयोग होने लगा है। इसी प्रकार हिन्दी---जो कि कोई अवि-कसित भाषा नहीं है, अतः अयोगावस्था में ही पड़ी हुई नहीं है---अपने आरम्भ अर्थात् अपभ्रंश-काल में संश्लेषणात्मक थी तथा आजकल की प्रौढ़ावस्था में विश्लेषणात्मक है लेकिन अब इसकी प्रवृत्ति (tendency) भी धीरे-धीरे संयोगात्मक होती जा रही है। *

---

* उस एकांत नियति शासन में चले विवश धीरे धीरे।
एक शांत स्पन्दन लहरों का होता ज्यों सागर-तीरे।।
—'प्रसाद' : कामायिनी।

'प्रियप्रवास' खड़ी बोली का आदि महाकाव्य है। इसके पूर्व खड़ी बोली में पद्य की रचनाएं बहुत कम हुई थीं। इसीसे वे न तो परिमार्जित हो सकी थीं और न प्रगल्भ। उनपर संस्कृत के वृत्तों के प्रभाव का एकमात्र कारण उनकी परम्परानुशासित परतंत्रता तथा भाषाविज्ञानजन्य प्रगति है। परिणामतः इसकी भाषा संस्कृतगर्भित और इसके छंद वार्णिक (अर्थात् तथाकथित संश्लेषणात्मक प्रवृत्ति को प्रश्रय देने वाले) हैं। इसलिए सिड्नी ली की दृष्टि को ग्रहण करने पर यह स्पष्टतया ज्ञात हो जाता है कि 'हरिऔध' ने हिन्दी के छंदों में "विरोधी और विजातीय पिंगल के नियमों को ठूँसने का दुष्प्रयत्न" नहीं किया है। वास्तव में द्विवेदी–मंडल से बाहर रहने पर भी 'हरिऔध' पर 'द्विवेदी युग' का खूब प्रभाव पड़ा था इसीसे इन्होंने संस्कृत छंदों और संस्कृत की समस्त पदावलियों का सहारा लेकर 'प्रियप्रवास' की रचना की। स्वयं ब्रह्मचारीजी ने भी अपनी पुस्तक के पूर्वरंग में यह स्वीकार किया है कि "जहाँ एक ओर वे हरिश्चन्द्र–युग और द्विवेदी-युग की याद दिलाते हैं, वहाँ दूसरी ओर उन्हें वर्तमान छायावादी और क्रांतिमूलक साहित्य से भी पूरी सहानुभूति है।" अस्तु, यह तो सर्वविदित है ही कि मराठी संस्कार के प्रत्यक्ष प्रभाव के कारण द्विवेदीजी ने अपनी कविता में अधिकतर संस्कृत वृत्तों का ही व्यवहार किया है। यहाँ तक कि अति आधुनिक युग के प्रगतिशील कवि 'निराला' ने भी अपनी कविताओं "राम की शक्तिपूजा" तथा "तुलसीदास" में अधि-

"तुम्हें बना सम्राट देश का राजसूय के द्वारा,
केशव ने था ऐक्यसृजन का उचित उपाय विचारा।

—'दिनकर' : कुरुक्षेत्र।

कतर संस्कृत की समस्त पदावली से सजी हुई भाषा का प्रयोग किया है। उनकी समास में गुम्फित पदवल्लरी एवं पंक्ति-पंक्ति में क्रियापद के लोप आदि के प्रयोग निश्चय ही हिन्दी की भावी संश्लेषणात्मक प्रवृत्ति का पूर्वाभास सूचित कर रहे हैं। ×
इधर अनूप शर्मा ने अपने सिद्धार्थ नामक प्रबन्धकाव्य में वार्णिक वृत्तों का सफलतापूर्वक धारा-प्रवाह उपयोग किया है। अतएव ब्रह्मचारीजी की यह धारणा कि 'जहाँ तुकान्तता न हो वैसी हिन्दी कविता में या तो संस्कृत-वार्णिक-वृत्तों की सी नियमित गति होनी चाहिए या अनायास धाराप्रावाहिकता। किन्तु संस्कृत वृत्तों की-सी गति हिन्दी के विश्लेषणात्मक होने से उसमें सुचारु रूपसे आ ही नहीं सकती। अतः यदि धारा-प्रावाहिकता के साथ कलात्मक भावाभिव्यञ्जन इष्ट हो तो भिन्नतुकान्त कविता हिन्दी में भी हो सकती है। भिन्न तुकांत ही नहीं भिन्न मात्रिक भी।...............किन्तु किसी भी दशा में संस्कृत वृत्तों का आश्रयण हिन्दी की प्रतिभा के उपयुक्त नहीं हो सकता।' निर्मूल सिद्ध हो चुकी है क्योंकि अब खड़ी बोली काफी मँज चुकी है और हर तरह के छंद को अपना सकती है। अंग्रेजी तथा उर्दू विश्लेषणात्मक भाषाएँ हैं लेकिन इनके पद्य वजन वगैरह पर यानी एक तरह से वार्णिक वृत्तों में ही लिखे जाते हैं क्योंकि इनमें मात्राओं का एकदम अभाव है। मात्र दुगुने नियंत्रण के भय से प्राचीन वार्णिक

× वारित-सौमित्र-भल्लपति　अगणित　मल्लरोध,
गर्जित प्रलयाब्धि　क्षुब्ध-हनुमत्-केवल　प्रबोध;
उद्गीरित-वह्नि-भीम-पर्वत-कपि　चतुः　प्रहर—
जानकी-भीर-उर-आशा　भर,　रावण सम्बर।
—निराला

वृत्तों का हिन्दी-खड़ी बोली के काव्य-क्षेत्र से तब तक बहिष्कार करना उपयुक्त एवं युक्तियुक्त नहीं है जब तक कि उसमें मात्रिक छंदों की पूर्ण व्यवस्था न हो जाय। स्व० काशीप्रसाद जायसवाल ने "साहित्य" में प्रकाशित अपने 'बेढब' शीर्षक लेख में अव्यवस्थित छंदों के नवीन प्रयोगों के बाहुल्य को देखकर कुछ इसी प्रकार का विचार प्रकट किया था।

जहाँ तक ज्ञात है, सर्वप्रथम खुसरो ने ही खड़ी बोली में कविताएँ कीं। तदनन्तर रहीम, नजीर इत्यादि ने इसके माध्यम से प्रयोग रूप से अपने-अपने भावों को व्यक्त किया। कुछ अन्य कवियों की भाषा में भी जहाँ-तहाँ खड़ी बोली का पुट मिलता है; पर आधुनिक काल में भारतेंदु के 'दशरथ विलाप' को खड़ी बोली का अर्वाचीन रूप प्राप्त है। कहने की आवश्यकता नहीं कि ऊपर लिखित लगभग सभी कवियों ने उर्दू बहर के साँचे में खड़ी बोली के पद्यों को ढालने की कोशिश की। द्विवेदीजी के खड़ी बोली आंदोलन (गद्य-पद्य की भाषा के एकाकार का यत्न) के उपरांत खड़ी बोली की कविता संस्कृत के छंदों में प्रकट होने लगी। * यथार्थ में 'हरिऔध' ने ही

* इसके पीछे तो "खड़ी बोली" के लिए एक आन्दोलन ही खड़ा हुआ। मुजफ्फरपुर के बाबू अयोध्या प्रसाद खत्री खड़ी बोली का झंडा लेकर उठे। संवत् १९४५ में उन्होंने 'खड़ी बोली आन्दोलन' की एक पुस्तक छपवाई × × × ×। चंपारन के प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान् और वैद्य पं० चन्द्रशेखरधर मिश्र, जो भारतेन्दु के मित्रों में थे, संस्कृत के अतिरिक्त हिन्दी में भी बड़ी सुन्दर और आशु कविता करते हैं। मैं समझता हूँ कि हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में संस्कृत वृत्तों में खड़ी बोली के कुछ पद्य पहले मिश्रजी ने ही लिखे।

—रामचन्द्र शुक्ल (हिन्दी-साहित्य का इतिहास)

हिन्दी के ढर्रे पर (जैसे, हरीतिमा, लालिमा प्रभृति के प्रयोग देखिये) सबसे पहले काव्य लिखना आरम्भ किया। यह तो निर्विवाद सत्य है कि उनकी कविताओं में भी उर्दू बहरों की साफ छाप झलकती है, जैसे, चोखे चौपदे एवं चुभते चौपदे में; किंतु तो भी उनमें हिन्दी अपना स्वतंत्र स्वरूप स्थिर करने के लिए कटिबद्ध दीख पड़ती है। भिन्नतुकांत छंद के विधान का उन्होंने प्रि० प्र० के प्रबंध में जो निरंतर अनुसरण किया है, वह भी उर्दू की शायरी के असर का परिचायक प्रतीत होता है। संस्कृत में अमित्रा छंद में काव्य-रचना की परिपाटी का बहुत पहले से ही प्रचलन था। उर्दू की नज्मों में काफिया-रदीफ (अन्त्यानुप्रास) मिलाने का भी तर्ज जारी है क्योंकि समस्यापूर्ति वाले पदों में "तरह" के अंतिम शब्द ही नवीन भावों को उद्दीप्त करने में सहायक होते हैं। संस्कृत की कविताओं में भी उपर्युक्त वर्णित दोनों प्रकार की छंदप्रणालियों का उपयोग होता रहा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'हरिऔध' ने दोनों साहित्यों के लक्षणों एवं प्रभाव-वैचित्र्यों के मध्य से होकर अपना मार्ग निर्धारित किया।

प्रसिद्ध दार्शनिक हिगेल ने ऐतिहासिक दृष्टि से सम्पूर्ण काव्यकला को तीन भागों में विभक्त किया है:—१ आदिम (Primitive) २ विशिष्ट (Classical), ३ रोमाञ्चक (Romantic)। कला का पहला वर्ग विषय अर्थात् वस्तु-प्रधान रहता है, उसके दूसरे वर्ग में विषय और भाव का सामंजस्य पाया जाता है तथा तीसरा भावप्रधान होता है। दूसरे शब्दों में पहला प्रकार काव्यकला का प्रारंम्भिक रूप है, दूसरा उच्च स्तर का पदार्थ है और तीसरा शुल्क

जी के शब्दों में स्वच्छन्द प्रेमाख्यान है। इस तरह, हिगेल के अनुसार, हम देखते हैं कि काव्यकला में निरंतर विकासोन्मुख परिवर्तन होता रहता है। यद्यपि क्रोसे के अनुसार न तो कला का कोई प्रकार है, न तो कला का कतई विकास है और न कलाकार की कला की शैली पर टीका-टिप्पणी करने का किसी को किंचित् अधिकार है तथापि मार्क्स का कहना है कि कलाकारों पर युग का प्रभाव पड़ता है, फलतः उनकी कला में सतत परिवर्तन होता रहता है। इसमें शक नहीं कि हिगेल एवं मार्क्स का मत अधिक मान्य है। इन दोनों मनीषियों के निर्णय के प्रकाश में 'प्रियप्रवास' खड़ी बोली के महाकाव्य की दृष्टि से काव्यकला का आदिम रूप है क्योंकि अभी तक उसके पद्य की भाषा का रूप निश्चित नहीं हुआ था जिसके फलस्वरूप इसमें इतिवृत्तात्मकता की भरमार है तथा कृष्णकाव्य की परिपाटी की दृष्टि से यह कला की क्रमानुसार भावाभिव्यक्ति के चरमोत्कर्ष पर अवस्थित है। इसलिए प्रि० प्र० की सच्ची समीक्षा का मापदण्ड (कसौटी) उन दोनों दृष्टियों के सुखद समन्वय पर निर्भर हो—यह मेरा प्रस्ताव है।

इसके पहले वाले अनुच्छेद में यह सिद्ध करने की चेष्टा की गयी थी कि प्रि० प्र० के रचनाकाल में चूँकि खड़ी बोली एक प्रकार-से प्रारम्भिक अवस्था में थी, इसलिए उसपर संस्कृत भाषा प्रभृति के छंदादि की अधिक छाप थी। श्री लक्ष्मीनारायण सिंह 'सुधांशु' ने भी अपनी साहित्यिक कृति "जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धांत" में इसका समर्थन किया है। देखिये:—

"शुरू-शुरू में जब हिन्दी में विविध विषयों का समावेश नहीं हो सका था, उसके दृष्टिकोण का विस्तार व्यापक नहीं हुआ था, तब छंद भी प्रायः वे ही काम में लाये जाते थे जिनका प्रयोग पहले से ही हो रहा था। नवीन दृष्टिकोण ने नये छंद तथा भाषा का सुष्ठु रूप कम में लाना शुरू किया। प्राचीन छंदों में खड़ी बोली के समाविष्ट होने में अधिक कठिनता तो नहीं मालूम पड़ी, किन्तु कवियों को ही अपने उल्लास की अभिव्यक्ति में नवीनता नहीं मालूम पड़ने लगी। संस्कृत के बहुत पुराने वृत्त, जो हिन्दी में प्रचलित नहीं थे, जनता का विनोद करने लगे। सिद्धहस्त कवियों ने मात्रिक छन्दों के अतिरिक्त हिंदी में संस्कृत के वर्णवृत्त का भी व्यवहार किया। उर्दू के छंदों का व्यवहार भी इधर-उधर होने लगा। × × × × हरिऔध.......... ने उर्दू बहरों में बहुत ज्यादा रचनाएँ कीं और उनके प्रयोग-प्रताप से वे हिन्दी-पिंगल में बैठने की जगह भी पा गये।" इस कथन के पूर्व ही उन्होंने लिखा था :—

"छंदों की संख्या बढ़ायी जा सकती है, किंतु इस कारण से नहीं कि पुराने छंद आधुनिक जीवन के उल्लास-विषाद को व्यक्त करने में अनुपयुक्त हो गये हैं। यदि छंदों का नया-पुराना होना संभव हो तो पुरानी वर्णमाला को भी हटा कर नयी ध्वनियाँ निश्चित कर लेनी चाहिए। ...क्या ....हम.......... ..प्रियप्रवास.......... ...में वर्णित जीवनवृत्त की उपेक्षा कर सकते हैं? यदि नहीं तो फिर काव्य में न छंद पुराना है, और न जीवन का उल्लास-विषाद। सच्ची बात यह है कि प्रत्येक छंद, जिसकी कुछ मर्यादा निश्चित कर दी गयी है, विषय तथा कवि के व्यक्तित्व

के साथ एकांत रूप से बदल जाता है। भाषा की अर्जित शक्ति के साथ कवि के व्यक्तित्व की शक्ति मिल जाने से छंदगत अभिव्यक्ति का सौन्दर्य बढ़ जाता है। प्राचीन और नवीन का भेद, काव्य की सौन्दर्यवृद्धि की आवश्यकता से अधिक, कवि की अपनी क्षमता को व्यक्त करने से ही संबंध रखता है। ... .संस्कृत वृत्तों में लय की समरूपता कुछ ऐसी बँधी चलती है कि अंतिम पद समरूप हो या न हो, चित्त को वर्णभिन्नता खटकने नहीं देती, पर मात्रिक छंद में कौशल की थोड़ी कमी रही तो भिन्नतुकांत अप्रिय मालूम होने लगता है। हिन्दी-काव्य भी जब तुक और बन्धन के भीतर व्याकुल होने लगा तब उससे मुक्ति का उपक्रम होने लगा। वस्तुत; यह व्याकुलता जितनी उसके स्रष्टाओं में लक्षित हुई, उतनी उसके पाठक या श्रोता में नहीं। इस व्याकुलता की विराट् व्यञ्जना हरिऔध के महाप्रबन्ध 'प्रियप्रवास' में हुई ...।"

ऊपर के उद्धरणों से यह स्पष्टतः प्रतीत होता है कि हरिऔध ने प्रि० प्र० में संस्कृत वृत्तों को सहज स्वाभाविक रीति से ही अपनाया किंतु उनकी अन्तर्वृत्ति क्रांति की ओर ही विशेषतः उन्मुख रही। श्री लालधर त्रिपाठी ने अपने "प्रियप्रवास-दर्शन" में बड़े ही महत्त्वपूर्ण शब्दों में उनके इस कोटि के स्वतंत्र व्यक्तित्व का स्मरण किया है तथा यह भी लिखा है—

"विद्वानों का कहना है कि किसी भी भाषा की प्रारम्भिक अवस्था में शैलियों का अन्वेषण करना साहित्यिक ज्ञान की अनभिज्ञता का परिचायक है। भाषा में साहित्य की सृष्टि होते-होते जब भाषा का स्वरूप स्थिर हो जाता है तब कहीं उसमें शैलियों के दर्शन होते हैं।" फलतः भाषा की दृष्टि से प्रि० प्र०

की समीक्षा का स्तर अधिक उत्कृष्ट निर्धारित होना विवक्षित नहीं। दूसरी ओर प्रि० प्र० की कथावस्तु, जो श्रीमद्भागवत के दशम् स्कन्ध से ली गयी है, की मौलिकता में भी कुछ व्यक्तियों को संदेह है। पर नहीं; उपर्युक्त आलोचक के मतानुसार जो लोग पूर्वसंचित (भाव) राशि में सौन्दर्यवृद्धि करते हैं, उनकी कृति का नाम मौलिक कृति पड़ता है।' इमरसन ने भी कहा है—मौलिकता नयी-नयी उद्भावनाओं में नहीं वरन् विषय की पैठ और उसकी गहराई में निहित है। अतएव विषयाभिव्यक्ति की दृष्टि से प्रि० प्र० की समीक्षा का स्तर अवश्य ही उच्च होना चाहिए क्योंकि इसी बिंदु पर उसका सारा महत्त्व केन्द्रीभूत है। ब्रह्मचारीजी की परख की यह कसौटी निःसन्देह खरी है। अपनी पुस्तक के आरम्भ में ही उन्होंने निम्नांकित विचार लिपिबद्ध किया है—

"हरिऔध की मौलिक काव्यचेतना ने इन तीनों दिशाओं में नवीनता लाने का निश्चय किया और परिणाम हुआ 'प्रियप्रवास'—जो मौलिक भी है, महाकाव्य भी है और साथ ही साथ भिन्नतुकांत छन्दों में निर्मित भी है।" तदनन्तर आपने प्रि० प्र० को खड़ी बोली का एक महाकाव्य प्रमाणित किया है। ❀

उपर्युक्त मंतव्य से यह निष्कर्ष निकलता है कि ब्रह्मचारीजी भी प्रि० प्र० की आलोचना के धरातल को अधिक उच्च परिणति प्रदान करने के पक्ष में नहीं हैं। किन्तु आधुनिक समीक्षा के सिद्धांतों के अनुरूप भी प्रि० प्र० की परीक्षा करने

❀ दे० महाकवि 'हरिऔध' का 'प्रियप्रवास', पृ० १७।

में वे प्रयत्नशील हैं, जैसे, "अतः एक सर्ग के पढ़ने पर दूसरे सर्ग को पढ़ने की उत्सुकता कम पड़ जाती है। यह दिलचस्पी अथवा आकर्षण संतान (unity of interest) की कमी-सम्भवतः कलापक्ष की त्रुटि है।".................

"किंतु यहाँ पर इतना कहना पर्याप्त होगा कि इसमें आकर्षण-संतान (unity of interest) के लिए यथेष्ट साधन नहीं। क्योंकि कंस के निमंत्रण का संदेश लेकर अक्रूर का आना और श्रीकृष्ण का मथुरा जाना और कालक्रम से ऊधो का ब्रज में आकर ठहरना—इस छोटे-से कथानक के अतिरिक्त सारे 'प्रियप्रवास' में कोई गतिशीलता नहीं। बस सर्गों तक एक ही सिलसिला, गोप गोपियों का करुण क्रंदन।" ❀ अवश्य ही प्रि० प्र० में यह दोष स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है। लेकिन साथ ही प्रश्न उठ खड़ा होता है कि क्या हम महाकाव्य में आकर्षण-संकलन नामक तत्त्व का अन्वेषण कर सकते हैं?

महाकाव्य और नाटक के स्वरूप में कुछ अतर है। नाटकों में त्वरा अर्थात् गतिशीलता की प्रधानता है क्योंकि उन्हें रंगमंच पर अभिनीत करना पड़ता है। महाकाव्य में वर्णन ही मुख्य है। नाटकों में पात्रों की विशिष्टता उनकी क्रियाशीलता में परिलक्षित है। महाकाव्य में वर्णन द्वारा ही पात्रों का चरित्र-चित्रण होता है। इन्दुमती की मृत्यु के उपरांत विरह-

---

* तु०— पर उपाध्यायजी का यदि यह विचार रहा हो कि जब वर्णन करना है तब आगे लिख दिया तो क्या प्रत्येक दशा में महा-काव्य बन जाता है, सो नहीं। ... ... अतः प्रिय-प्रवास भी साकेत की भाँति महाकाव्य नहीं।

—मानव : खड़ी बोली के गौरव ग्रंथ, पृ० १४२।

वेदना से आक्रांत अज का विलाप वर्णन की दृष्टि से रघुवंश महाकाव्य का एक प्रधान, आवश्यक एवं अनिवार्य अंग है। उस विलाप द्वारा ही अज का चरित्र अधिक स्पष्ट और स्थिर होता है। लेकिन नाटक में वही अंश दोष में परिगणित होता क्योंकि उसका कथानक एक तो, कथनोपकथन के माध्यम से विकसित होता है इसलिए मनोरंजन की दृष्टि से उसकी लम्बाई पर प्रतिबन्ध है, दूसरे, नाटककार को अपनी ओर से उसके विषय में कुछ भी कहने का अधिकार नहीं। इसलिए महाकाव्य की यह विशेषता नाटकों में दुर्लभ है और नाटकों का आकर्षण-संकलन महाकाव्य में निष्प्रयोजन है। निश्चय ही आधुनिक युग में इन दोनों का समन्वय उपन्यासों में पाया जाता है परन्तु उपन्यास और महाकाव्य के अंतर को भी समझ लेना चाहिए। ❋ कुछेक आधुनिक मनोविश्लेषणप्रधान उपन्यासों को छोड़कर अन्य सभी उपन्यासों में घटना-वैचित्र्य ही मुख्य है; महाकाव्य में कवित्व-शक्ति का प्रदर्शन प्रधान है। फिर भी महाकाव्यों में नाटकीय तत्त्वों का रहना ऐच्छिक है यद्यपि इनसे उनकी सौन्दर्यवृद्ध ही होती है। विश्वनाथ ने इसीलिए महाकाव्यों में नाटकों की सभी संधियों का होना निश्चित किया था। महाकाव्य के कथानक के संबंध-निर्वाह की संपूर्ण योजना इसी पर आश्रित है और ऐसा होने पर ही गीतिकाव्य और महाकाव्य की प्रबंध-पद्धति का अंतर स्पष्ट हो जाता है। मगर तो भी महाकाव्य में वर्णन के महत्त्व की अवहेलना नहीं की जा सकती। अस्तु, आगे चलकर ब्रह्मचारी जी ने अधोलिखित पंक्तियों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है :—

❋ दे० साहित्य-शिक्षा, पृ० १०० से आगे। ले०-पन्नालाल पदुमलाल बख्शी।

"किसी भी कथानक के उत्तरोत्तर-सौन्दर्य के लिए पाठक को ऐसे स्थलों से उसमें साक्षात्कार होना चाहिए जिनमें उसे आकस्मिक (dramatic) नवीनता का आनन्द मिले, जिनमें अपूर्व और अद्भुत घटना-विशेष से उत्पन्न होनेवाले रोमाञ्च और प्रस्पन्दन (thrill) का आविर्भाव हो सके। किन्तु यदि आप कथानक के सारे भविष्य को वर्त्तमान की कसौटी पर कसकर पहले ही से जान लें, तो यह कला की त्रुटि समझी जायगी। 'प्रियप्रवास' की कथावस्तु में आश्चर्य, रोमाञ्च और प्रस्पन्दन का अभाव-सा है और अतः उसकी एकरसता खटकती है।" 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिना' के अनुसार यह तो रुचिविशेष पर निर्भर है कि कोई-कोई कवि-कोविद आश्चर्य, रोमांच और प्रस्पन्दन को पसन्द करते हैं, तो कोई-कोई अधिक गंभीर मनोवृत्तियों के उद्घाटन में दत्तचित्त रहते हैं। कोई-कोई 'रचना की बारीकी या काव्यांगों के सूक्ष्म विन्यास की निपुणता की ओर ही मुख्यतः दृष्टि रखने वाले' होते हैं, तो कोई-कोई 'हृदय के अंतस्तल पर मार्मिक प्रभाव चाहते हैं, किसी भाव की स्वच्छ निर्मल धारा में कुछ देर अपना मन मग्न रखना चाहते हैं'। अंग्रेज कवि वर्ड्सवर्थ ने अपनी कविता "हार्ट लीप वेल" में एक स्थल पर गाया है 'गतिशील घटनाओं का वर्णन करना मेरा व्यापर नहीं है और न रक्त को हिमाच्छन्न करनेवाली मेरी प्रत्युत्पन्न कला है। ग्रीष्म की शीतल छाया में सहृदय विचारकों के लिए सरल संगीतपूर्ण वेणु-

वादन ही मुझे आनन्द प्रदान करता है।" ❀ अतएव यदि हरिऔध भी वर्ड्सवर्थ के स्वर में स्वर मिलाएँ, तो आश्चर्य ही क्या है? अतः हम यह देखना चाहेंगे कि क्या प्रि० प्र० के निर्माण में इनका भी यही उद्देश्य रहा है, अथवा नहीं।

रोमांतक-आंदोलन के प्रवर्त्तक वर्ड्सवर्थ की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह एकमात्र प्रकृति का कवि था। जिस प्रकार शेक्सपीयर शुद्ध मानव का कवि था उसी प्रकार वर्ड्सवर्थ शुद्ध प्रकृति का कवि नहीं था। शेक्सपीयर ने भी प्रकृति का गीत गाया है किन्तु उसने उसे सभ्यता के संकीर्ण घर में ही फूलते-फलते हुए देखा है। वर्ड्सवर्थ ने प्रकृति को उस मुक्त प्रांगण में प्रस्फुटित देखा है जिस ओर अभी तक सभ्यता की नजर गयी ही नहीं। वहीं पर उसकी स्वच्छन्द प्रकृति और स्वतंत्र मानव के बीच तादात्म्य स्थापित होता है। उसकी दृष्टि में मानव और प्रकृति का सापेक्षिक सम्बन्ध-भाव है अर्थात् मानव प्रकृति का शिशु है। जिस प्रकार कालिदास ने प्रकृति का जीवन-दर्शन किया था उसी प्रकार वर्ड्सवर्थ ने प्रकृति को सप्राण ग्रहण किया तथा ठीक उसी प्रकार हरिऔध ने भी उसका स्पन्दनपूर्ण वर्णन किया है। इस तरह युगों के उपरांत हरिऔध ने ही मानव को प्रकृति के चिर साहचर्य में पुनः विकसित

❀ The moving accident is not my trade,
To freeze the blood I have no ready arts:
'Tis may delight, along in summer shade,
To pipe a simple song for thinking hearts.
—Wordsworthe:
Hart-Leaps well.

और पुष्पित होने का अवसर दिया। आधुनिक काल में भारतेंदु ने हिन्दी-काव्यजगत् में प्रकृति को फिर से जीवन प्राप्त करने की सुविधा दी। स्वयं ब्रह्मचारी ने लिखा है—

"महाकाव्य में प्राकृतिक दृश्यों और मानवीय हृदय की भावनाओं और उसके बहिरंग विकास (external manifestation) का चित्रण में तो 'हरिऔध' का इस युग में एक अनुपम स्थान है। कवि की प्रकृति के प्रति जो प्रबल सहानुभूति...........है उसका ज्वलंत परिचय है 'प्रिय प्रवास'। × × × × + और इस सम्बन्ध में निःसन्देह वे वर्त्तमान युग के अग्रदूत समझे जायेंगे। किन्तु ऐसा क्यों ? इसके लिए आपने एक कारण ढूँढ़ निकाला है और वह है—

"जब हिन्दी के वर्त्तमान युग का प्रवर्त्तन हुआ तो कई क्षेत्रों में क्रांति हुई। भारतेंदु ने मानव प्रकृति के अन्तः सौन्दर्य के विश्लेषण और विशदीकरण की ओर भी अपनी प्रतिभा को प्रेरित किया। किन्तु मानवेतर प्रकृति की नैसर्गिक रूपराशि की ओर से वे भी उदासीन ही रहे। उनके जहाँ-तहाँ गंगा-यमुनादि प्राकृतिक दृश्यों के वर्णनों से पता चलता है कि उनमें भी प्रकृति की "नग्न माधुरी" के प्रति उतना आकर्षण न था, जितनी ऊँची अट्टालिकाओं अथवा मनोहर बने-सजे घाट बाटों के प्रति। वे ही पुरानी गतानुगतिक निर्जीव, उपमाएँ तथा उत्प्रेक्षाएँ ! मानवेतर प्रकृति के जीवित, जाग्रत और स्पन्दित रूप की सौन्दर्यानुभूति से वे वञ्चित ही रह गये।

'हरिऔध' के 'प्रियप्रवास'-निर्माण तक अंग्रेजी के प्रकृति-प्रेमी वर्ड्सवर्थ आदि की कविताएँ हमारे कानों में गूँजने लगी थीं। × × × किन्तु नवयुग हिन्दी के उस लजीले

अवगुंठन-मोचन के समय 'प्रियप्रवास' की रचना द्वारा 'हरि-औध' ने प्रकृति-सुन्दरी के मुख का आवरण हटा कर उसकी नैसर्गिक रूपराशि की संपत्ति साहित्यिक जगत् को खुले हाथों लुटाई।"

वास्तव में आपका कहना उचित एवं मान्य है क्योंकि हिन्दी-साहित्य के सभी कालों पर जब हम दृष्टिपात करते हैं तब हम हिन्दी के कवियों को प्रकृति की उपेक्षा करते हुए पाते हैं। क्या वीर, क्या भक्ति, क्या रीति, सभी कालों में प्रकृति वर्णन का आधार कवि का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं था। यद्यपि 'आप्त शब्दों' का सहारा लेकर गिनी-गिनाई वस्तुओं के उल्लेख द्वारा अर्थ ग्रहण मात्र करना इन कवियों का अभीष्ट था तथापि हिन्दी साहित्य में प्रकृति-चित्रण की एक परम्परा भी रही है। प्रकृति-चित्रण की इस सम्पूर्ण परिपाटी को हम पाँच वर्गों में विभक्त कर सकते हैं :—

(१) प्रकृति का आलम्बन रूप, (२) प्रकृति का उद्दीपन रूप (३) प्रकृति का बिंब-प्रतिबिंब रूप, (४) प्रकृति का उपदेशात्मक रूप, (५) प्रकृति का आलंकारिक रूप।

१ प्रकृति का आलम्बन रूप हमें संस्कृत के कवियों के प्रकृति-चित्रण में उपलब्ध है। हिन्दी के कवियों ने प्रकृति का यथातथ्य एवं तद्रूप चित्रण नहीं किया है। प्रकृति जैसी है वैसी वह न तो तुलसी द्वारा चित्रित हुई है और न सूर द्वारा ही। इसे स्वयं स्व० रामचन्द्र शुक्ल ने भी स्वीकार किया है। प्रकृति का हू-ब-हू वर्णन रीतिकाल के अंत में द्विजदेव की कविता में कहीं-कहीं मिलता है; किन्तु फिर भी कालिदास की प्रकृति के समान न तो इनकी प्रकृति सजीव हो सकी है और

२ प्रकृति के उद्दीपन रूप को रीतिकालीन कवियों ने पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया है। रीतिकाल के कवियों की प्रकृति उनके नायक एवं नायिकाओं के मनोभावों को विशेषत: रतिभाव को उद्दीप्त करने में निरंतर सजग तथा सहायक है। इनकी प्रकृति इनकी नायक-नायिकाओं के प्रेम-व्यापार के विकास के लिए आधारभूमि का काम करती है फलत: वह गौण है क्योंकि इनका मुख्य उद्देश्य प्रकृति-चित्रण नहीं है वरन् शृंगार-रस-वर्णन है। लेकिन कुछ कवियों ने ऐसे प्रचलन के विरुद्ध प्रकृति का बड़ा ही रम्य वर्णन किया है जिनके प्रथम पाठ में यह कहना कठिन काम है कि उन स्थलों पर आलंबन-विभाव के किसी विशेष मनोभाव का वर्णन प्रधान है या प्रकृति का चित्रण। मतिराम के निम्नांकित सवैये से यह बात स्पष्ट हो जाती है क्योंकि इसमें आलम्बन-विभाव उद्दीपन-विभाव को और उद्दीपन-विभाव आलम्बन-विभाव को तीव्र तथा अनुरंजित करने में सतत प्रयत्नशील हैं :—

दोऊ आनंद सों आंगन माँझ बिराजैं असाढ़ की साँझ सुहाई।
प्यारी के बूझत और तिया को अचानक नाम लियो रसिकाई॥
आई उनै मुँह मैं हँसी, कोपि तिया पुनि चाँप सी भौंह चढ़ाई।
आँखिन ते गिरे आँसू के बूंद, सुहास गयो उड़ि हंस की नाई॥

इतना ही नहीं, अंतिम पंक्ति में उद्दीपन-विभाव यदि संचारी भाव को उद्दीप्त करता है, तो साथ ही साथ संचारी भाव भी उद्दीपन-विभाव अर्थात् प्रकृति को सजीव, स्पष्ट एवं प्रभावोत्पादक बनाता है। लेकिन ऐसी कविताएँ तो उँगलियों पर गिनने लायक हैं! सूर का यह प्रसिद्ध पद भी प्रकृति का उद्दीपन रूप ही उद्घाटित करता है :—

मधुवन तुम कत रहत हरे ?
विरह वियोग श्याम सुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे ?
तुम हो निलज, लाज नहीं तुमको, फिर सिर पुहुप धरे।
ससा स्यार और बन के पखेरू धिक-धिक सबन करे॥
कौन काज ठाढ़े रहे वन में काहे न उकठि परे।

क्योंकि वृन्दावन की वसंत-श्री को देखकर प्राचीन स्मृतियों के सजग हो जाने के कारण गोपियों की विरह-वेदना बढ़ जाती है और चूँकि वे प्रकृति के बिम्ब में अपने हृदय का प्रतिबिम्ब नहीं पातीं इसी से झल्ला उठती हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह पद विप्रलंभ शृंगार के उद्दीपन-विभाव के ही अन्तर्गत है।

३ प्रकृति का बिंब-प्रतिबिंब रूप काव्य तब में चित्रित होता है जब हम मानव के मनोभावों का आभास प्रकृति में प्रति-भासित पाते हैं। दूसरे शब्दों में अन्तः प्रकृति और बाह्य प्रकृति के सामञ्जस्य को लेकर पूर्ण प्रकृति का जो चित्र खड़ा किया जाता है वही प्रकृति का बिंब-प्रतिबिंब रूप है। प्रकृति के इस रूप को हम पुन: दो उपवर्गों में बाँट सकते हैं :—(क) आरोपण विधान द्वारा चित्रित रूप, (ख) सामञ्जस्य विधान द्वारा चित्रित रूप। पहला रूप प्राचीन पद्धति पर आश्रित है। इसके अन्तर्गत प्रकृति पर मानव मनोभावों की प्रतिक्रिया का चित्रांकन होता है और उसे बलात् आरोपण द्वारा चित्रित दिखाया जाता है न कि वह स्वतः ऊपर कहे गये जैसा व्यक्त हो जाता है। सूर का यह पद इसका अनुपम उदाहरण है :—

आजु घनश्याम की अनुहारि।
उनै आये साँवरे सखि लेह रूप निहारि॥

इन्द्र धनुष मनो पीत बसन छवि दामिनि दसन बिचारी।
जनु बगपाँति माल मोतिन की चितवत चित लें हारि॥
गरजत गगन गिरा गोविंद की, सुनत नयन भरे वारि।
सूरदास गुन सुमिरि स्याम के विकल भईं ब्रज नारि॥

यहाँ पर कवि ने जबरन प्रकृति में गोपियों के मानस-प्रदत्त भावों के प्रतिबिंब का भ्रमवश दर्शन सादृश्य-विधान के बल पर कराया है। वास्तव में जब प्रकृति की प्रतिक्रिया के लक्षण आलम्बन विभाव पर प्रगट होने लगते हैं तब प्रकृति का उद्दीपन रूप चित्रित होता है परन्तु ठीक इसके विपरीत पूर्वकथनानुसार प्रकृति का बिंब-प्रतिबिंब रूप उद्घाटित होता है, इसे समझ लेना चाहिए। जैसे, तुलसी की यह चौपाई :—

नव तरु किसलय मनहु कृसानु।
काल निसा सम निसि ससि भानु॥
कुवलय बिपिन कुंत बन सरिसा।
वारिद तप्त तेल जनु बरिसा।
जे हित रहे करत तेइ पीरा।
उरग साँस सम त्रिविध समीरा॥

उद्दीपन के अन्तर्गत आयगी; बिंब-प्रतिबिंब के नहीं।

सामञ्जस्य–विधान द्वारा चित्रित प्रकृति का रूप आधुनिक छायावादी कवियों की देन है। छायावादी कवि प्रकृति को सजीव-सप्राण पाता है। वह प्रकृति को मानव के प्रति सहानुभूति एवं समवेदना प्रकट करता हुआ देखता है। अतएव वह प्रकृति में अपनी आत्मा का निवास-स्थान ढूँढ़ता है। इसीसे वह अन्तः और बाह्य जगत् में सामञ्जस्य स्थापित करता है। अतः पंत "मौन निमंत्रण" में कहता है:—

देख वसुधा का यौवन-भार,
गूँज उठता है जब मधुमास;
विधुर-उर के-से मृदु उद्‌गार,
कुसुम जब खुल पड़ते सोच्छ्‌वास;
न जाने, सौरभ के मिस कौन,
संदेशा मुझे भेजता मौन?

यहाँ कवि 'विधुर उर के मृदु उदगार' की प्रतिच्छाया 'कुसुम के सोच्छ्‌वास' प्रस्फुटन में पाता है और यह चित्र स्वतः अनायास अंकित हो जाता है, फलतः इसे हम आरोपण-विधान पर निर्भर नहीं मान सकते। 'बच्चन' की यह कविता भी इसी के अन्तर्गत है:—

तीर पर कैसे रुकूँ मैं आज लहरों में निमन्त्रण।
वेग से बहता प्रभंजन केश पर मेरे उड़ाता
शून्य मे भरता उदधि-उर की रहस्यमयी पुकारें
इन पुकारों की प्रतिध्वनि हो रही मेरे हृदय में
है प्रतिच्छायित जहाँ पर सिंधु का हिल्लोल कंपन॥
तीर पर कैसे·········

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि सामञ्जस्य—विधान-द्वारा चित्रित प्रकृति का रूप छायावादी कृति है; परन्तु महाकवि देव ने भी प्रकृति को एक हद तक उपर्युक्त रूप में चित्रित किया है:—

झहरि झहरि झीनी बूँद हैं परति मानो,
घहरि घहरि घटा घेरी है गगन में।
आनि कह्यो स्याम मों सौं 'चलौ झूलिबे को आज'
फूली ना समानी भई ऐसी हौं मगन मैं॥

चाहत उठ्योई, उठि गई सो निगोड़ी नींद,
सोय गये भाग मेरे जागिवा जगन में ॥
आँख खोलि देखौं तो न घन हैं न घनस्याम,
वेई छाई बूँदें मेरे आंसु ह्वै दृगन में ॥

अन्तिम पंक्ति में अन्त: अर्थात् नायिका के आन्तरिक जगत् से प्रेरित अनुभाव एवं बाह्य अर्थात् प्रकृति के बाहरी दृश्य रूप में अनायास ही समन्वय स्थापित हो गया है। अतएव यह चित्र परम्पराभुक्त परिपाटी से मुक्त है। हाँ, सैकड़ों वर्ष उपरान्त छायावादी कवि इससे अवश्य प्रभावित हुए, यद्यपि उसी युग के रीतिकालीन नहीं।

यथा,

घहरि घहरि घन सघन चहूँधा घेरि,
छहरि छहरि विष-बूँद बरसावै ना।
द्विजदेव की सौं अब चूक मत पावै
ऐरे पातकी पपीहा ! तू पिया की धुनि गावै ना ॥

अथवा

खोलि इन नैनन निहारौं तौ निहारौं कहां ?
सुषमा अभूत छाय रही प्रति भौन भौन।
चांदनी के भार न दिखात उनयो सो चंद,
गंध ही के भारन बहत मंद मंद पौन ॥

प्रभृति।

४ प्रकृति का उपदेशात्मक रूप तुलसी के वर्षा एवं शरद वर्णन में निखर पड़ा है:—

दामिनि दमकि रही घन मांही। खल की प्रीति यथा थिर नाहीं।
बरसहि जलद भूमि नियराये। यथा नवहिं बुध विद्या पाये।

बूंद अघात सहहिं गिरि कैसे। खलके बचन संत सह जैसे॥
क्षुद्र नदी भरि चलि उतराई। जस थोरे धन खल बौराई।
भूमि परत भा ढाबर पानी। जिमि जीवहिं माया लिपटानी॥

× × ×

(वर्षा विगत शरद ऋतु आई। लछ्मन देखहु परम सुहाई।)
उदित अगस्त पंथ जल सोखा। जिमि लोभहिं सोखे सतोखा।

इत्यादि।

सूर ने भी इस परम्परानुप्राणित परिपाटी का पदानुसरण किया है:—

सखि ई रितु रुसिबे को नाहीं।
बरसत मेंह मेदिनी के हित प्रियतम हरष मिलाहीं।
जे तमाल ग्रीष्म ऋतु डाहे, पुनि तरुवर लिपटाहीं।
यौवन धन है दिवस चारि को, ज्यों बदरी की छाहीं।
सूरदास············

यहां तक कि आधुनिक युग के सर्वश्रेष्ठ कवि मैथिलीशरण गुप्त का प्रकृतिचित्रण भी इसके प्रच्छन्न प्रभाव से वंचित नहीं। नीचे की पंक्तियों से भूगोल की शिक्षा लीजिये:—

मेरी ही पृथ्वी का पानी
ले ले कर यह अन्तरिक्ष सखि, आज बना है दानी!
मेरी ही धरती का धूम
बना आज आली घन घूम।
गरज रहा गज-सा झुक झूम, ढाल रहा मद मानी।

मेरी ही पृथ्वी का पानी। ×

५ प्रकृति के आलंकारिक रूप को करीब-करीब सभी कवियों ने चित्रित किया है। कुछेक ने उसे यदि विश्लिष्ट रूप में ग्रहण किया है, तो कुछेक ने संश्लिष्ट रूप में। जब काव्य में कवियों का अभीष्ट उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक प्रभृति अलंकारों का चमत्कार प्रदर्शित करना रहता है तब वे प्रकृति के विश्लिष्ट अंग-उपांगों को ग्रहण करते हैं और चंद्र, कलम आदि की शरण लेते हैं। लेकिन: जब कवि मालोपमा, सांगरूपक, अर्थान्तर न्यास आदि की छटा दिखलाना चाहता है तब वह प्रकृति के संश्लिष्ट रूप की ओर आकृष्ट होता है। जैसे:—

अद्भुत एक अनूपम बाग।

युगल कमल पर गजवर क्रीड़त, तापर सिंह करत अनुराग,
हरि पर सरवर सर पर गिरिवर, गिरि पर फूले कंज पराग।
रुचिर कपोत बसे ता ऊपर ता ऊपर अमरित फल लाग।
फल पर पुहुप, पुहुप पर पल्लव, तापर सुक पिक मृगमद काग,
खंजन धनुष चन्द्रमा ऊपर ता ऊपर इक मनिधर नाग।
अंग–अंग प्रति ओर तोर छवि उपमा ता को करन न त्याग,
सूरदास प्रभु पिअहु सुधारस मानहु अधरन को बड़ भाग।

तुलना—

× देखियत चहुँदिसि ते घन घोरे।
मानहुँ मत्त मदन के हस्ती बल करि बंधन तोरे,
स्याम सुभग तन, चुवत गल्ल मद, बरषत थोरे-थोरे।
तब उहि समय आनि ऐरावत व्रजपति सों करजोरे;
अब जन सूर स्याम के हरि बिनु गरत जाय जिमि भोरे।

सूरदास के इस रूपकातिशयोक्ति-युक्त पद में विद्यापति के समान ही * अप्रस्तुतों का एक संश्लिष्ट रूप खड़ा किया गया है और इस प्रकार उन्होंने प्रकृति का एक संश्लेषणात्मक आलंकारिक रूप चित्रित किया है। केशव ही एक ऐसा कवि है, जो प्रकृति का यहाँ तक कि आलंकारिक रूप भी चित्रित करने में हिचकिचाहट का अनुभव करता है :—

देखेई मुख भावे अन देखे ई कमलचंद,
तातै मुख मुखै, सखि, कमलो न चंद ही।

(गरचे इसमें अलंकार की ही प्रधानता है।)

हिन्दी के प्राचीन कवियों ने प्रकृति को इन्हीं पाँच रूपों में चित्रित किया है। आधुनिक कवियों ने या तो लक्षणा-वैचित्र्य दिखलाने के लिए प्रकृति को प्रतीक का रूप प्रदान किया है और इसी प्रकार कभी-कभी उसका मानवीकरण भी किया है या प्रकृति के वर्णन के ब्याज से निजी कल्पना-जगत् में विचरण करते हुए उसी का कहीं-कहीं अनुरंजित चित्र नाना मूर्त्त रूपों और चित्रोपम दृश्यों का विधान करते हुए खींचा है। इस तरह प्रकृति से इनका भी सीधा रागात्मक संबंध छूटता गया है, जिसका विवेचन अन्यत्र कभी होगा। फिर भी "प्रसाद", महादेवी प्रभृति-जैसे छायावादी कवियों ने प्रकृति के प्रतीक रूप को अत्यन्त ही आकर्षक प्रणाली द्वारा चित्रित किया है :—

अस्ताचल पर युवती संध्या की खुली अलक घुँघराली है।
लो मानिक मदिरा की धारा अब बहने लगी निराली है॥

---

* ए सखि कि देखल अपरूप। सुनइते मनबि सपन सरूप॥

भर ली पहाड़ियों ने अपनी झीलों की रत्नमयी प्याली,
झुक चली चूमने वल्लरियों से लिपटी तरु की डाली है ॥

× × +

वसुधा मदमाती हुई उधर आकाश लगा देखो झुकने,
सब झूम रहे अपने सुख में तूने क्यों बाधा डाली है ?

—प्रसाद ।

अथवा—

रजनी ओढ़े जाती थी झिलमिल तारों की जाली ।
उसके बिखरे वैभव पर जब रोती थी उजियाली ॥ *

—महादेवी ।

तथा—

पैरों के नीचे जलधर हों, बिजली से उनका खेल चले ।
संकीर्ण कगारों के नीचे, शत-शत झरने बेमेल चलें ॥
सन्नाटे में हो विकल पवन, पादप निज पद हों चूम रहे ।
तब भी गिरि पथ का अथक पथिक ऊपर ऊँचे सब झेल चले ॥

अथवा—

'भारतेन्दु' की 'चन्द्रावली' नाटिका में संध्या का मानवी रूप में प्रवेश प्रभृति ।

---

* तु०—चुनरी विचित्र श्याम सजि के मुबारक जू,
नख सों सिख लों निपट सकुचाती है ।
चन्द्र में लपेट के समेट के नखत मानो,
दिन को प्रणाम किये रात चलि जाती है ॥

तथा— डग भई बावन की सावन की रतिया ।

सेनापति ।

'प्रसाद' की इन पंक्तियों में हम जलधर को यदि विपत्ति का प्रतीक मानते हैं, तो बिजली को आशा की; कगारों को यदि भय की प्रतिमूर्ति मानते हैं तो झरने को करुणा का एवं पवन को यदि अशांति का उपलक्षण मानते हैं, तो पादप को आकांक्षा का। इस तरह हम देखते हैं कि आधुनिक छायावादी कवियों ने प्रकृति के तत्त्वों को प्रतीक रूपों में ग्रहण किया है और उनका यत्र-तत्र तद्रूप चित्रण किया है।

हरिऔध के प्रियप्रवास में प्रकृति के उपर्युक्त पाँचों रूप चित्रित हुए हैं। उनके प्रकृति-चित्रण में यदि परम्परानुमोदित परिपाटी का निर्वाह पाया जाता है, तो साथ ही साथ नवीन पद्धति को अंगीकार करने की क्षमता का भी आभास मिलता है। उनके निकट प्रकृति सुन्दर है, मनोरम है एवं है आकर्षक; साथ ही साथ उन्हीं के समीप प्रकृति विकृत है। भयंकर है एवं है रोमांचक। इसमें अत्युक्ति नहीं कि प्रकृति के प्रत्येक पक्ष को उन्होंने अपने काव्य 'प्रि० प्र०' में स्थान देने का साहस दिखलाया है। प्रियप्रवास के प्रारम्भ में प्रकृति आलम्बन-विभाव के रूप में चित्रित हुई है :—

दिवस का अवसान समीप था,
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरुशिखर पर थी अब राजती,
कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा।

यहाँ हम कुछेक पदसंख्या तक ही प्रकृति का आलम्बन-विभाव के रूप में वर्णन पाते हैं। आगे चलकर प्रकृति उद्दीपन-विभाव का काम करने लग जाती है। इतना ही नहीं, वह कथानक के भावी परिणाम का पूर्वाभास भी प्रदान करती

है। * निःसन्देह कवि ने प्रकृति को इन पदों में मूर्त्त, सजीव और रमणीय बना डाला है। इसकी झलक मात्र से पाठकों की रागात्मिका वृत्ति तृप्त होती है। कारण प्रकृति का यह दृश्य उनकी कल्पना को नहीं छूता और न उसे चंचल करता है प्रत्युत् उसके मानसिक नेत्रों के समक्ष यह जीते-जागते रूप में प्रत्यक्ष-सा उगा आता है, जिसके बिंब-ग्रहण स्वरूप उनका हृदय आनन्द से परिपूर्ण होकर नाच उठता है। इसके द्वादश सर्ग के वर्षा-वर्णन में हम पुनः प्रकृति को आलम्बन रूप में चित्रित पाते हैं--

सरस सुन्दर-सावन मास था,
घन रहे नभ में घिर घूमते,
विलसती बहुधा जिनमें रही।
छविवती—उड़ती—बक मालिका ।।
बहरता गिरि सानु समीप था,
बरसता छिति-छू नव-वारि था।
घन कभी रवि-अंतिम—अंशु ले।
गगन में रचता बहु—चित्र था ।।

आचार्य शुक्लजी का यह कथन बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है कि 'एक बड़े प्रबन्धकाव्य में प्राकृतिक दृश्यों का श्रोता के भाव के

---

* दिवस के अवसान से यामिनी के अंत तक के ही वर्णन प्रियप्रवास में इसलिए अधिक हैं कि काव्य का वातावरण विषादपूर्ण है। यह बात ध्यान देने की है कि उपाध्यायजी ने इन प्रहरों को 'तमस-निर्मित' रखा है। व्रजवासियों से कृष्ण को छुड़ाने वाली इस कृष्ण पक्ष की रात को कृष्ण-पक्ष की कैसे कहें ?

—मानव : खड़ीबोली के गौरव ग्रंथ, पृ० १५६।

आलम्बन-रूप में वर्णन भी आवश्यक है, और यह स्वरूप उन्हें तभी प्राप्त हो सकता है जब उनका चित्रण ऐसे ब्योरे के साथ हो कि उनका बिम्बग्रहण हो, उनका पूर्ण स्वरूप पाठक या श्रोता की कल्पना में उपस्थित हो जाय। कारण, रति या तल्लीनता उत्पन्न करने के लिए प्रत्यक्ष स्वरूप का परिचय आवश्यक है। सारांश यह कि 'उद्दीपन' होने के लिए रूप का थोड़ा-थोड़ा प्रकाश क्या, संकेत मात्र यथेष्ट है; पर आलम्बन होने के लिए पूर्ण और स्फुट स्फुरण होना चाहिए।' प्रि० प्र० के अनेक स्थलों पर हम प्रकृति का बड़ा ही विशद वर्णन पाते हैं। और भी, प्रकृति के इन्हीं दृश्यों के बीच हमें कृष्ण तथा राधा का परिचय मिलता है एवं उनके साथ तादात्म्य-संबंध का भी अनुभव प्राप्त होता है। आगे चलकर यह भी पता चलता है कि यही प्रसंग-प्राप्त दृश्यावली राधा या कृष्ण की प्रेम-परिस्थिति को अंकित करती है तथा उनके मनोभावों एवं चेष्टाओं को भी उत्तेजित करती है। दूसरे शब्दों में हरिऔध प्रकृति के उपर्युक्त आलम्बन-रूप को अनायास ही उद्दीपनरूप में परिणत कर देते हैं। जैसे,—

तदपि था पड़ता जल पूर्व-सा,
इसलिए अति व्याकुलता बढ़ी।
विपुल लोक गये ब्रज भूप के,
निकट व्यस्त-समस्त अधीर हो॥
प्रकृति को कुपिता अवलोक के
प्रथम से ब्रज भूपति व्यग्र थे।
विपुल-लोक समागत देख के।
बढ़ गयी उनकी वह व्यग्रता॥

जैसा कि पूर्व ही कहा गया है, हरिऔध की प्रकृति पूर्व रंग के संग-संग पूर्वाभास भी प्रदान करती हैं—

अरुणिमा- जगती-तल रंजनी।
वहन थी करती अब कालिका।
मलिन थी नव रागमयी-दिशा।
अवनि थी तमसावृत हो रही॥

× × ×

व्रजधरा-जन की निशि साथ ही
विकलता परिवर्द्धित हो चली
तिमिर साथ विमोहक-शोक भी
प्रबल था पल ही पल हो रहा।

× × ×

सुखद थे बहु जो जन के लिए,
फिर नहीं ब्रज के दिन हा! फिरे।
मलिनता न समुज्ज्वलता हुई।
दुख-निशा न हुई सुख की निशा॥

प्रकृति-चित्रण द्वारा कथानक का ऐसा पूर्वाभास देना आधुनिक काव्य-पद्धति का चमत्कार है। हरिऔध इसीलिए प्राचीन होते हुए भी नवीन हैं। उन्होंने प्रकृति का बिंब-प्रतिबिम्ब रूप भी उद्घाटित किया है। कहीं-कहीं वे प्राचीन कवियों की भाँति आरोप-विधान द्वारा प्रकृति का बिम्ब-प्रतिबिम्ब रूप अंकित करते हैं और कहीं-कहीं अर्वाचीन कवियों की भाँति सामञ्जस्य-विधान द्वारा समन्वित प्रकृति का बिम्ब-प्रतिबिम्ब रूप चित्रित करते हैं। पहले प्रकार का रूप निम्नांकित पंक्तियों में उद्भासित हो उठा है:—

मैं पाती हूँ अधिक तुझ में क्यों कई एक बातें।
क्यों देती है व्यथित कर, क्यों वेदना है बढ़ाती।
क्यों होता है न दुख तुझको वंचना देख मेरी।
क्या तू भी है निठुर पन के रंग ही बीच डूबी।

× × ×

तारात्र्यों से खचित-नभ को देखती जो कभी हूँ
या मेघों में मुदित-वक की पंक्तियाँ दीखती हैं।
तो जाती हूँ उमग, बँधता ध्यान ऐसा मुझे है।
मानो मुक्ता-लसित-उर है श्याम का दृष्टि आता ॥*

दूसरे प्रकार का चित्रण अधोलिखित पंक्तियों में सम्पन्न हुआ है:—

हो-हो पूरो चकित सुनती वेदना है हमारी।
या तू खोले वदन हँसती है दशा देख मेरी।
मैं तो तेरा सुमुखि ! इतना मर्म भी हूँ न पाती।
क्या आशा है अपर तुझसे है निराशामयी तू ॥

× × ×

क्या तू भी है रुदन करती यामिनी-मध्य यों ही।
जो पत्तों में पतित इतनी वारि की बूँदियाँ हैं।
पीड़ा द्वारा मथित उर के प्रायशः कांपती हैं
या तू होती मृदु-पवन से मन्द आंदोलिता है ॥

* तुलना—

* उन बानन्ह अस को जो न मारा। बेधि रहा सगरो संसारा।
गगन नखत जो जाहिं न गने। वे सब बान ओहि के हने ॥

या वदन जो देखा कमल भा, निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा, दसन जोत नग हीर ॥

—जायसी : पद्मावत

× अस्तु; इन दोनों प्रकार के प्राकृतिक चित्रों में प्रकृति का बिम्ब-प्रतिबिम्ब रूप प्रकट हुआ है। एक में आरोपण द्वारा तथा दूसरे में सामञ्जस्य-विधान द्वारा हम राधा की आन्तरिक छटा को बाह्य संसार में प्रतिभासित पाते हैं। फलतः हरिऔध ने एक ओर यदि परम्पराजन्य प्रकृति-चित्रण की परिपाटी का पालन किया है, तो दूसरी ओर उन्होंने नूतन पद्धति का भी यथासाध्य स्वागत किया है। सचमुच सच्चा कवि प्रचीन के फलस्वरूप तथा नवीन के फलस्वरूप उद्भूत होता है। प्रि० प्र० में प्रकृति का उपदेशात्मक रूप भी जहाँ-तहाँ व्यक्त हुआ है:—

परम म्लान हुई बहु बेलि को।
निरख के फलिता अति-पुष्पिता।
सकल के उर में रम-सी गयी
सुखद-शासन की उपकारिता॥

× × ×

ज्योतिर्मयी—विकसिता हसिता लता को
लालित्य साथ लपटी तरु से दिखा के।
थे भाखते पति-रता अवलम्बिता का।

× तुलना—
तारक लोचन से सींच-सींच रज को करता है विरज आज।
पथ में बरसाता हर सिंगार केसर से चर्चित सुमन-लाज॥
उठता कंटकित रसालों पर है पागल पिक मुझको पुकार॥
लहराती आती मधु बयार॥
—महादेवी वर्मा : सांध्य गीत,

कैसा प्रमोदमय जीवन है दिखाता ॥

× × ×

अनन्यता दिव्य फलादि की दिखा।
महत्त्व औ गौरव, सत्य-त्याग का।
विचित्रता से करती प्रकाश थी।
सपत्रता पादप पत्रहीन की।

अतः प्रकृति के चित्रण के बहाने कवि ने बीच-बीच में "कान्ता सम्मिततया" बड़ा ही हृदय-ग्राही उपदेश दिया है। प्रकृति के अलंकार-प्रधान रूप-निर्माण की ओर भी इनका ध्यान गया है। वैसे-वैसे स्थलों पर इन्होंने अलंकारों का विचित्र चमत्कार प्रदर्शित किया है:—

रसमयी भव-वस्तु विलोक के
सरसता लख ? भूतल-व्यापिनी
समझ है पड़ता बरसात में
उदक का रस नाम यथार्थ है।
मृतप्राय हुई तृण-राजि भी।
सलिल से फिर जीवित हो गयी।
फिर सुजीवन जीवन को मिला
बुध न जीवन क्यों उसको कहें।

इन पंक्तियों में अनुप्रास, यमक, श्लेषादि शब्दालंकारों के अतिरिक्त काव्यलिंग प्रभृति अन्य अर्थालंकारों का भी निर्देश हो गया है। काव्य के क्षेत्र में अलंकार जुटाना कल्पना-तत्त्व का काम है। बुद्धितत्त्व द्वारा लाये गये विषय को कल्पना अर्थात् अलंकार ही मुखरित करता है। अगर प्रकृति के चिर परिचित पदार्थों को काव्य के अप्रस्तुतों—अलंकारों के रूप में उपस्थित

किया जाय, तो वे विषय को स्पष्ट एवं भाव को तीव्र करते हैं अतएव साहचर्य-ज्ञान के कारण उनके उल्लेख आश्रय के हृदय में निहित वासनाओं को जगाने में समर्थ होते हैं और इस प्रकार रागात्मक तत्त्व रसानुभूति का मार्ग प्रशस्त करता है। अतएव प्रकृति का आलंकारिक रूप उपेक्षा की वस्तु नहीं है। अलबत्ता अत्यंत का वर्जन अपेक्षित है। हरिऔध ने इसी से प्रकृति के इस रूप को भी संयमपूर्वक अपनाया। यदि विद्यापति एवं सूरदास ने मानवी राधा को उद्यान अथवा प्रकृति का रूप प्रदान किया है, तो इन्होंने प्रकृति को ही मात्र एक मानवी का रूप दिया है—

चन्द्रोज्ज्वला रजत पत्र-वती मनोज्ञा।
शांता नितान्त-सरसा सुमयूख-सिक्ता।
शुभ्रांगिनी सु-पवना सुजला सुकूला
सत्पुष्प सौरभवती वन मेदिनी थी॥

× + ×

धारामयी अमल श्यामल अर्कजा में।
प्रायः स–तारक विलोक मयंक छाया।
थे सोचते खचित—रत्न असेत शाटी।
है पैन्हली प्रमुदिता वन भू-वधू ने॥ *

---

* तु०—इसी समय पौ फटी पूर्व में, पलटा प्रकृति–पटी का रंग।
किरण–कण्टकों से श्यामाम्बर फटा, दिवा के दमके अंग॥
कुछ कुछ अरुण, सुनहली कुछ-कुछ, प्राची की अब भूषा थी।
पंचवटी की कुटी खोल कर खड़ी स्वयं क्या ऊषा थी॥

—गुप्तजी : पञ्चवटी

इस प्रकार हरिऔध ने प्रकृति के बहिरंग (अलंकारप्राय) एवं अंतरंग (मानसप्रदत्त) दोनों रूपों को प्रियप्रवास में चित्रित किया है। प्रकृति के अंतरंग की झाँकी हमें तब मिलती है जब हम उसे राधा के प्रति सहानुभूति एवं समवेदना से पूर्ण पाते हैं। उसके बहिरंग को भी उन्होंने नवीन आवरण दिया है; पर प्रकृति के अंतरंग की ओर उनकी दृष्टि विशेष रूप से उन्मुख है क्योंकि वे प्रकृति के माध्यम से मानव के अन्तर्जगत् का उद्घाटन करना चाहते हैं। जरा राधा की मनोदशा देखिये:—

शबनम-तल तारे जो उगे दीखते हैं,
यह कुछ ठिठके-से सोच में क्यों पड़े हैं?।
व्रज दुख अवलोक क्या हुए हैं दुखारी,
कुछ व्यथित बने से या हमें देखते हैं।।
रह रह किरणें जो फूटती हैं दिखाती
वह मिस इनके क्या बोध देते हमें हैं
कर वह अथवा यों शांति का हैं बढ़ाते
विपुल व्यथित जीवों की व्यथा मोचने को।

वस्तुत: इन पदों में हरिऔध ने मानव-प्रकृति और शुद्ध प्रकृति का बड़ा ही मनोरम तादात्म्य दिखलाया है, जिसके फलस्वरूप जड़ प्रकृति चेतन हो उठी है। क्या 'इसके भीतर चराचर के साथ मनुष्य के संबंध की बड़ी प्यारी भावना' मिली हुई नहीं है? और देखिये:—

कोई प्यारा कुसुम कुम्हला गेह में जो पड़ा हो
तो प्यारे के चरण पर ला डाल देना उसी को॥
यों देना ऐ पवन बतला फूल-सी एक बाला
म्लाना हो हो कमल पग को चूमना चाहती है॥

तथा—होते होवें पतित कण जो अंभ रागादिकों के
धीरे-धीरे वहन करके तू उन्हीं को उड़ा ला।
कोई माला कल कुसुम की कंठ संलग्न जो हो
तो यत्नों से विकच उसका पुष्प ही एक लादे

सच है, 'कामार्ता हि प्रकृति कृपणाश्चेतना चेतनेषु' अर्थात् 'को जड़ को चैतन्य न जानत।' विरही जन के अनुसार जड़ प्रकृति तो यहाँ चैतन्य लाभ करती ही है, यहाँ तक कि जड़ मानव भी प्रकृति का शिशु—निःसर्ग का अंग बन बैठा है! ब्रह्मचारीजी के शब्दों में हरिऔध ने 'अपने काव्य के नायक और नायिका को प्रकृति की ही गोद में लालित और पालित चित्रित किया है।'

हमारी सभ्यता का जन्म प्रकृति के ही स्वच्छंद प्रांगण में हुआ था। इसी से प्राचीन संस्कृत वाङ्मय में प्रकृति का बड़ा सजीव वर्णन मिलता है। इसे यों कह सकते हैं कि संस्कृत-साहित्य एवं प्रकृति-वर्णन में अटूट संबंध विद्यमान है। 'हमारे साहित्य-निर्माता' में शांतिप्रिय द्विवेदी ने लिखा है—"बात यह है कि संस्कृत छंदों और शब्दों में एक ऐसी गरिमा है जो प्राकृतिक शोभा-संबंधी एवं भावपूर्ण कविताओं को गुरुता प्रदान कर देती है। प्रियप्रवास का कवि भी ऐसा जान पड़ता है मानों संस्कृत कवियों की परंपरा में चल रहा है, जिनके द्वारा इस प्रकार की कविताओं के लिए पीढ़ियों तक पूर्ण स्वरसंधान हो चुका है।" हरिऔध चूँकि प्रि० प्र० नामक एक महाकाव्य की रचना करना चाहते थे, और उसमें प्रकृति का चित्रण होना अनिवार्य था इसलिए उन्होंने प्रकृति-चित्रण को तूल दिया, ऐसी कोई बात नहीं। सच तो यह है कि कवि के हृदय का प्रकृति-प्रेम ही फूट कर प्राचीन छन्दों की परिधि से

उमड़ कर प्रि० प्र० में विविध प्राकृतिक रूप धारण कर प्रकट हो गया है। फलतः प्रकृति के प्रति मानव के प्रत्यावर्त्तन की आधुनिक ध्वनि के निनाद के लिए ही प्रि० प्र० का निर्माण हुआ है—यही हमारा विश्वास है। इसीसे राधा, कृष्ण, यशोदा, नन्द तथा अन्य पात्रों के व्यक्तित्व का विकास प्रकृति के क्षेत्र में ही होता है। फलतः वे कृत्रिम एवं संकीर्ण सभ्यता के बाह्याडंबर तथा मानव द्वारा निर्मित मान्यताओं के बोझ से भाराक्रान्त नहीं हैं। राधा यदि 'लूसी' जैसी सरल है तो कृष्ण 'पैन' जैसे निष्कपट। हरिऔध के आगमन के पूर्व जिन कृष्ण एवं राधा की प्रतिष्ठा हिन्दी काव्य में हुई थी, वे सीमिति परिधि में विचरण करते थे क्योंकि या तो वे भक्ति-भाव से लदे हुए थे या रीति-प्रभाव से दबे हुए थे। यहाँ तक कि बहुतेरे पूर्ववर्ती संस्कृत इत्यादि के कवियों ने भी राधा-माधव का चित्रांकन शुद्ध मानव की अवतारणा की दृष्टि से नहीं किया है।

राधा-कृष्ण-भावना के उद्भव और विकास के इतिहास पर जब हमारा ध्यान जाता है तब हम पहले-पहल वेदों की ओर आकृष्ट होते हैं। वहाँ कृष्ण का उल्लेख है लेकिन राधा का नहीं। वह कौन कृष्ण है? इस विवाद में हम अभी नहीं पड़ना चाहते। यहाँ तक कि विष्णु तथा ब्रह्मवैवर्त्त पुराणों में कृष्ण को विष्णु का अवतार माना गया है लेकिन राधा की चर्चा पहले में वहाँ भी नहीं हुई है। * श्रीमद्भागवत में

* जहाँ तक पुराणों का सम्बन्ध है, ब्रह्मवैवर्त पुराण में सर्व-प्रथम राधा कृष्ण की परकीया प्रेमिका के रूप में आती है।

—शंभुप्रसाद बहुगुना

एक गोपी का वर्णन हुआ है, जो कृष्ण की विशेष कृपा-पात्र है। कहते हैं वही आगे चलकर मध्य युग की राधा बन गयी। यथार्थ में 'राधा' शब्द 'राध' धातु से बना है जिसका अर्थ 'आराधक' है। कृष्ण की उपासिका को राधा कहते हैं। मध्य युग में आराधना एवं साधना की ही प्रधान धारा बह रही थी। अतएव सर्वप्रथम जयदेव के 'गीत गोविन्द' में राधा का पुनीत दर्शन होता है परन्तु ऐसा अनुमान है कि उसकी कल्पना अलवारों के पूर्ववर्ती साहित्य में हो चुकी थी। ❀ उसमें केलि एवं विलास की प्रधानता है—

प्रथम समागम लज्जितया पटु चाट शतैरनुकूलम।
मृदु मधुरास्मित भासितया शिथलीकृत जघन दुकूलम॥

तदनन्तर विद्यापति ने उसका मनोहर चित्रण किया है। दोनों की राधा कामकला-कुशला है। विद्यापति की राधा, रूप की अजस्र स्रोतस्विनी, नवयौवनांकुरा किशोरी है अतः सहज चंचल है। जो कोई विश्वविजयी उसके सम्पर्क में आता है वह उसी के रंग में रँग जाता है—

देख-देख राधा रूप अपार।
अपरूप के विहि आनि मिलावल खिति तले लावनि सार॥
अंगहि अंग अनंग मुरझायत हेरय पड़य अधीर।
मनमथ कोटि मथन करु जे जन से हेरि महि-मधि-गीर॥
(कत कत लछिमी चरन तल ने उछब रंगिनी हेरि विभोरि।
करु अभिलाष मनहि पदपंकज अहोनिसि कोर अगोरि॥)

❀ दे. 'सूर साहित्य की भूमिका'; ले० रा० र० भटनागर और वा० त्रिपाठी।

उसका अंचल मलिन हो रहा, है अथवा नहीं, इसकी उसे कतई चिंता नहीं—वह सुरक्षित रहे, यही बहुत है! दूसरे शब्दों में कवि ने उसके 'वर' व्यक्तित्व में शील एवं मर्यादा के निर्वाह की इच्छा का स्त्रीसुलभ प्रदर्शन तक नहीं किया है। उसके समसामयिक भक्त चांडीदास ने जिस राधा की अवतारणा की है, वह 'मखन की पुतली' है। उसके तन-मन में वासना का दुर्निवार आवेग प्रच्छन्न रूप से परिव्याप्त है, मानो अन्तः सलिला का वह पारदर्शक सजल स्निग्ध रूप हो! स्वभाव-जन्य आकांक्षाओं की क्षणिक उर्मियों से उसका हृदय-सागर आंदोलित होता रहता है जिसके कारण वह संयोगानन्द में भी भावी विरह की केवल कल्पना से ही भयभीत होकर सिहर-सिहर उठती है, रो पड़ती है—

एमन पीरित कभु देखि नाइ सुनि।
परागे पराग बांधा आपने आपनि॥
दुंहु कोरे दुंहु कांदे विच्छेद भाविया।
आध तिलना देखिले जाय जे मरिया॥
समुखे राखिया करे बसनेर वा।
मुख फिराइले तार भये काँपे वा॥ प्रभृति॥

अधिक क्या, उसके जीवन में जैसे वियोगजन्य अश्रु-संचय का ही अखंड वरदान पाया है। इसी से यदि जयदेव की राधा का गात्र मात्र-शरीर-पक्ष ही—मुखर है, और विद्यापति की राधा के सभी मांसल अवयवों में तरल रक्त की लाली छिटक रही है; तो चण्डीदास की राधा की दसों इंद्रियाँ झंकृत, मूर्च्छित एवं विकल मौन हैं। एक ओर विद्यापति की राधा कृष्ण से मिलने की अदम्य आकांक्षा लेकर आती है और अपने

'प्राणों को जुड़ाकर' भी अतृप्त ही रह जाती है परन्तु चण्डी-दास की राधा के समस्त हृदय के तृप्त होने-न-होने का कभी कोई प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि वह केवल उनके आगमन पर ही विस्मय-विमुग्ध है; तो दूसरी ओर भक्तप्रवर महाकवि सूर-दास की राधा प्रिय के प्रेम की अनुपम अनुभूति में नखशिख पर्यन्त निमग्न प्रतीत होती है। उनकी राधा में भक्ति एवं शृंगार का मधुर सम्मिश्रण है। कृष्ण से मिलने के लिए उसका रोम-रोम व्याकुल है लेकिन वह लोक-मर्यादा का उल्लंघन नहीं कर सकती क्योंकि वह स्वकीया है। बचपन से लेकर यौवन तक राधा के अन्तर में तरंगित होने वाला प्रेमप्रवाह चकृत एवं उद्विग्न है जिसे वह विरह की बड़वाग्नि में दग्ध कर धीरे-धीरे प्रशांत बनाती है इसीलिए वह संयमशील प्रत्युत् उद्दाम प्रेम की अद्भुत प्रतीक है। वस्तुतः राधा का कृष्ण के प्रति नियंत्रित प्रीतिनिवेदन प्रकृति का पुरुष के प्रति सशंक पर सम्पूर्ण आत्मसमर्पण है —

राधे मिलेहु प्रतीति न आवति।
यदपि नाथ विधु बदन विलोकति दरसन को सुख पावति।
भरि-भरि लोचन रूप परमनिधि उर में आनि दुरावति।
विरह विकल मति दृष्टि दुहूँ दिसि रुचि सरधा ज्यों धावति।
चितवति चकित रहति चित अन्तर नैन निमेष न लावति।
सपनो आहि कि सत्य ईस यह बुद्धि वितर्क बनावति।
कबहुँक करत विचार कौन हौं को हरि केहि यह भावति।
सूर प्रेम की बात अटपगी मन तरंग उपजावति॥

सारांश यह कि सूर की राधा का ही निर्माण प्रकृति के विशुद्ध तत्त्वों से हुआ है; यही कारण है कि उसमें दार्शनिकता

गहरा पुट पड़ गया है। यही राधा रीतिकाल के कवियों की कृपा से व्यभिचार में लिप्त होकर आपादमस्तक भ्रष्ट हो चुकी थी। उनके शब्दजाल से उसका उद्धार असंभव था—

कोई कहो कुलटा कुलीन अकुलीन कहो,
कोई कहो रंकिनी कलंकिनी कुनारी हौं।
कैसो नरलोक परलोक बर लोकनि मैं,
लिन्हीं मैं अलोकलोक लोकनि ते न्यारी हौं॥

क्या यह हर्ष का विषय नहीं है कि उस राधा के दोषों का प्रक्षालन उसके 'गुलाम' भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तक के असमंजस में पड़ जाने के उपरांत * हरिऔध के पवित्र कर-कमलों द्वारा हुआ? क्या यह अनिवार्य नहीं था कि उस राधा की भग्न प्रतिमा का आज जीर्णोद्धार हो, जिसे हमने पहले कभी पूज्य तथा अपने हृदय-मंदिर की अधिष्ठात्री समझा था। निःसन्देह हरिऔध ने प्रियप्रवास में उसी राधा के प्राणों में रत्नमयी बंसी की वह मधुवर्षी ध्वनि पुनः फूँक दी, जो पृथ्वी पर प्रेम की हर्षोन्मुख प्रफुल्ल वसंतश्री है और इस तरह उसे कलंक-सागर में यों ही डूब जाने से एकदम बचा लिया।

---

* प्यारी छवि की रासि बनी।
जाहि बिलोकि निमेष न लागत श्रीवृषभानु जनी॥
नन्द नन्दन सों बाहु मिथुन करि ठाढ़ी जमुना-तीर।
करक होत सौतिन के छवि लखि सिंह कमर पर चीर'...
बैस-संधि-संक्रौन-समय तन जाके बसत सदाई।
'हरीचन्द' मोहन बड़भागी जिन अंकम करि पाई॥

हरिऔध की राधा पूर्णतः मानवी है। उसकी सृष्टि नारी-प्रकृति के कोमल उपादानों से हुई है इसीसे उसमें मानवीय आत्मा का ममतामय निवास है। अर्थात् उसका हृदय मानव-दुःखों के प्रति हमेशा समवेदना-युक्त है। पुस्तक के आरम्भ में वह 'वरबाल' 'विरह सोद्वेलिता' है। फलतः पाठकों की करुणा की अधिकारिणी है। साथ ही वह शील एवं मर्यादा की प्रतिमूर्ति है। उसके व्यक्तित्व में कवि ने क्रमशः विकास दिखलाया है जिसके फलस्वरूप वह सजी प्रतीत होती है। मध्य में वह प्रेम के ऐहिक पक्ष पर विजय प्राप्त करती है किन्तु उसके मानसिक स्तर में मिलनोत्कण्ठा बनी ही रहती है। प्रेम, सेवा तथा त्याग के पथ पर धीरे-धीरे अग्रसर होती हुई वह कितना महान् दीख पड़ती है। अन्त में वह कृष्ण के कर्मों का अनुकरण करके उन्हीं में आनन्द लाभ करती हुई मोह-लोभ के संकीर्ण द्वार को पार करने के पश्चात् प्रेम-प्रणय के उज्ज्वल प्रांगण में प्रवेश करती है। इस प्रकार परोपकार में लीन रहकर तथा व्यक्तिगत दुःखों से ऊपर उठकर वह अपने व्रत के बल से अन्य लोगों का आदर्श बन जाती है। प्रि० प्र० के चतुर्थ सर्ग में राधा का प्रथम प्रवेश होता है। उसका रूप कितना मनमोहक है:—

> रूपोद्यान प्रफुल्ल-प्राय कलिका राकेंदु बिम्बानना।
> तन्वंगी कल-हासिनी सुरसिका क्रीड़ा कला पुत्तली
> शोभावारिधि की अमूल्य-मणि-सी लावण्य-लीलामयी।
> श्री राधा मृदुभाषिणी मृगदृगी माधुर्य की मूर्ति थी॥

क्या वह प्रकृति की सहचरी नहीं? क्या वह 'मिरेंडा' की सगी है? कदापि नहीं। वही राधा कृष्ण के नेत्रों में कैसी जँचती है, देखिये—

जो राधा वृष-भानु भूप तनया स्वर्गीय दिव्यांगना
शोभा है ब्रज प्रान्त की, अवनी की, स्त्रीजाति की, वंश की।
होगी हा ! वह मग्न भूत अति ही मेरे वियोगाब्धि में।

वही राधा जब ऊधो से यह निवेदन करती है–

निर्लिप्ता हूँ अधिकतर मै नित्यश : संयता हूँ
तो भी होती अति व्यथित हूँ श्याम की याद आते।
वैसी वांछा जगत–हित की आज भी है न होती
जैसी जी मे लसित प्रिय के लाभ की लालसा है।

तब उसके कथन से इतना तो ज्ञात हो ही जाता है कि वह अपने चरित्र के विकास के लिए निरंतर प्रयत्नशील है। सेवा के मार्ग को अपनाकर उसने नारी-हृदय के जिस महान् उत्सर्ग की दिव्य झलक दिखलायी है, वह अपूर्व है:—

वे छाया थीं सुजन सिर की शासिका थीं खलों की।
कंगालों की परम निधि थीं औषधी पीड़ितों की।
दीनों की थीं बहिन, जननी थीं अनाथाश्रितों की।
आराध्या थीं ब्रज अवनि की, प्रेमिका विश्व की थीं।

ब्रह्मचारीजी ने राधा के प्रेम के तीन सोपान निर्धारित किये हैं:—

१ निर्दोष 'बरबाल सुनेह',

२ 'सविधि वरण' की कामना से दूषित स्वार्थमय मोह,

३ विश्व प्रेम प्रवण निस्स्वार्थ प्रणय। "मगर आपके अनुसार "किन्तु प्रेम के इस विकास में, अन्तर्द्वन्द्वों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में, जिस भावना- क्रम (motivation) की आवश्यकता है उसका 'प्रियप्रवास' में अभाव है।" उनकी इस शंका का समाधान 'गिरीशजी' के शब्दों द्वारा हो जाता है—

"प्रियप्रयास में राधिका प्रेमिका हैं, श्रीकृष्ण प्रेमिक होते तो प्रियप्रवास का दम ही घुट जाता। वास्तव में राधा की प्रेमिकता और परिस्थितिजन्य परवशता ने कृष्ण की निष्ठुरता के साथ संयुक्त होकर अपूर्व विरह-वेदना की सृष्टि की है जो महाकाव्य का विषय है। ऐसी अवस्था में यदि राधा को दुर्बल हृदय का न बनाया जाता तो उसके काव्य-शकट के आगे अनिवारणीय पाषाण-खण्ड प्रस्तुत हो जाता।" 'गिरीश' जी का यह विचार सर्वमान्य है। उनकी इस स्वच्छ दृष्टि का हम तभी परिचय पा सकते हैं जब विद्यापति तथा हरिऔध की राधा के अन्तर को समझ जायँ विद्यापति के राधा-कृष्ण में तुल्यानुराग है, इसीसे वह गीतिकाव्य का विषय है, पर (जैसा कि ऊपर कहा गया है)। हरिऔध के राधाकृष्ण में इसका अभाव है इसीसे हरिऔध की राधा 'पंचम सर्ग से सप्त दस सर्ग' तक प्रि० प्र० में कृष्ण-वियोग में रोती-रोती पृष्ठों को रँगती रहती है। यहाँ तक कि इसी लिए गोपियाँ यह कहकर ही कि "व्याही जाऊँ कुँवर संग में एक वाञ्छा यही थी" चुप रह जाती हैं और 'प्रेम की अंधता' को स्वीकार करती हैं किन्तु राधा को इनसे ऊपर उठना है। महाकाव्य की नायिक बनना है, 'लोक दृष्टि तक पहुँचना है' तथा एक महत् उद्देश्य को लेकर 'विश्व के काम' आना है, Freud भला, वह पगली अपने-आप को कृष्ण के प्रेम-प्रतिदान तक ही क्यों सीमित रखती तथा अपने प्रयो-जन का प्रगीतात्मक अंत देखती ?

इस तरह हमने देखा कि हरिऔध ने राधा की भावना में क्रांतिकारी विकासोन्मुख परिवर्तन उपस्थित किया है। महा-देवी की यह अमर पंक्ति 'आकुलता ही आज हो गयी तन्मय

राधा' हरिऔध की राधा पर ही अक्षरश: लागू है। परम्परा से आती हुई अमूर्त्त एवं प्रतीकवत् राधा प्रि० प्र० में ही आकर मूर्त्त होती है और वह भी एक महान् उद्देश्य के चरितार्थ। जिस प्रकार राधा के चरित्र में हरिऔध ने एक अभिनव व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा की है उसी प्रकार उन्होंने कृष्ण के जीवन में भी नवीन दृष्टि का आरोपण किया है। 'कृ' धातु से 'कृष्ण' शब्द की व्युत्पत्ति मानी जाती है। आकर्षित करने वाले को ही कृष्ण कहते हैं। 'आकर्षण' का प्रमुख केन्द्र भगवान् है इसीलिए 'भगवान् हि स्वयं कृष्ण:' कहा गया है। गीता के योगिराज कृष्ण, जो कर्मसंन्यास के प्रतिनिधि हैं वे ही पुराणों में विष्णु के अवतार बन गये हैं। उन्हें मद्भागवतकार ने ब्रह्म मान लिया है, जिन्हें हम ज्ञान द्वारा जान सकते हैं। परन्तु गीता के निष्काम श्रीकृष्ण जयदेव के गीत-गोविंद में 'सकाम' हो उठे हैं। उनके चरित्र में भक्ति एवं शृंगार का विचित्र समन्वय पाया जाता है। विद्यापति को चूँकि वज्रयानियों के वाम मार्ग का खण्डन करना था अतएव उन्होंने अपने कृष्ण को दक्षिण नायक का पद प्रदान किया एवं मधुर भक्ति से ओतप्रोत कर उन्हें सोलहो कलाओं में प्रवीण बनाया। उनके कृष्ण युवक एवं नागरिक पुरुष हैं। वे चित्त-चोर हैं; उनका हृदय विषय में अनुरक्त है फलत: उनका शारीरिक पक्ष तीव्र है किन्तु आध्यात्मिक मंद—यदपि वे स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म की ही ओर अधिक आसक्त हैं। * इसके

---

* सुरत समापि सुतल वर नागर पानि पयोधर आपी।
कनक सम्भु जनि पूजि पुजारी धयल सरोरुह झाँपी॥
सखि हे माधव केलि विलासे।
मालति रमि अली नाह अगोरलि प्रभु रति रंजक आसे॥

अतिरिक्त वे अनुकरणीय भी नहीं। चण्डीदास ने अपने कृष्ण को मानवीय गुणों से विभूषित कर उनका चित्रण किया है। वे अपनी दुर्बलताओं के कारण सजीव हैं अतः ज्यादा आकर्षक हैं। चण्डीदास ने अपने नीचे लिखे हुए विश्वास की भित्ति पर कृष्ण का निर्माण किया है :—

सुनह, सुनह मानुष भाई।
सबार ऊपर मानुष सत्य ताहा ऊपर नाई॥

इसी से उनके कृष्ण अकृत्रिम जँचते हैं, यद्यपि उनमें भी परकीयोन्मुख प्रकृत वासना का वीज विद्यमान है। हाँ, सूरदास के कृष्ण सुसंस्कृतप्रेम मूर्त्ति हैं। उनकी बाल्यावस्था एवं युवावस्था का सूर ने अत्यन्त ही मार्मिक वर्णन किया है। दार्शनिक क्षेत्र में वे सगुण ब्रह्म हैं तथा भक्ति के क्षेत्र में विष्णु के अवतार। किन्तु उनका रूप लोकरंजक ही है। उनके आचरण में सत्य एवं शील का आंशिक महत्त्व सन्निहित है; पर सौन्दर्य की सम्पूर्ण विभूति से उनका व्यक्तित्व वेष्ठित है। इन्हें हम प्रेम द्वारा ही प्राप्त कर सकते हैं। ❀ इस सर्वगुण-सम्पन्न कृष्ण को रीतिकालीन कवियों ने कामी, चोर, रसलम्पट, विषयी, परस्त्रीगामी, व्यभिचारी एवं त्याज्य बना छोड़ा। वे सब प्रकार के सुलभ नायकों के प्रतिनिधि बन गये। उनका

❀ प्रीति के वश में हैं मुरारी।
प्रीति के वश्य नटवर वेस धार्यो प्रीतिवश करत गिरिराज धारी॥
प्रीति के वश्य व्रज भये माखन चोर प्रीति के वश्य दाँवरी बँधाई।
प्रीति के वश्य गोपी रमन प्रियनाम प्रीति के वश्य तरु चपल मोक्ष दाई।
प्रीति के वश्य नन्द बन्धन वरुण सदन गये प्रीति के वश्य वनधाम कामी॥
प्रीति के वश्य सूर त्रिभुवन विदित प्रीतिवश सदा राधिका स्वामी॥

ऐश्वर्य एवं माधुर्य तिरोहित हो गया। यहाँ तक कि उक्त युग ने उन्हीं में अपना च्युत आदर्श 'राधा गुविंद सुमिरन को बहानो' कहकर पाया। इसीसे आ० रा० च० शुक्ल ने लिखा है कि मुहम्मद शाह रँगीले को भी कृष्ण बनने का शौक चर्राया करता था। सोचने की बात है कि ऐसे कामलोलुप, लुब्ध एवं जघन्य कृष्ण को सड़े पंक से निकाल कर हरिऔध ने पुनः महापुरुष के गौरव से मंडित कर उच्च आसन प्रदान किया। उन्हें अवतारवाद में विश्वास नहीं है, यद्यपि दबी जबान से उन्होंने प्रि० प्र० की भूमिका में श्रीकृष्ण को अवतार ही स्वीकार किया है :—

"मैंने श्रीकृष्णचन्द्र को इस ग्रंथ में एक महापुरुष की भाँति अंकित किया है; ब्रह्म करके नहीं। अवतारवाद की जड़ मैं गीता का यह श्लोक मानता हूँ × × × × "अतएव जो महापुरुष है, उसका अवतार होना निश्चित है।" अतः यह स्वतः सिद्ध है कि हरिऔध ने गीता के कृष्ण को अपनाया किन्तु उन्हें न तो ज्ञानी, न प्रेमी, न ब्रह्म, न उपास्यदेव और न तो साकार शृंगार के रूप में प्रि० प्र० में स्थान दिया वरन् उन्होंने उन्हें युगधर्म के अनुकूल बनाया। भण्डारकर के अनुसार गोपाल कृष्ण, वसुदेवकृष्ण एवं आभीर कृष्ण के विलग-विलग व्यक्तित्व है। वेदों के ऋषिकृष्ण गो-पालक हैं, महाभारत के धर्म-प्रवर्तक कृष्ण वासुदेव हैं तथा भागवत के दक्षिणी कृष्ण आभीर जाति के नेता हैं। हरिऔध ने (कनेडी के) इन तीनों कृष्णों के सुकृत रूप को ग्रहण किया है और प्रि० प्र० में स्थल-स्थल विशेष पर इनका उल्लेख भी किया है। जैसे—

संसार में सकल काल नृरत्न ऐसे
हैं हो गये अवनि है जिनकी कृतज्ञ।

सारे अपूर्व गुण हैं उनके बताते
सच्चे नृरत्न हरि भी इस काल के हैं ॥

इन पंक्तियों में वैदिक श्रीकृष्ण अथवा महाभारतीय श्रीकृष्ण का भागवत के श्रीकृष्ण के साथ सुखद समन्वय संघटित हुआ है। पहली दोनों पंक्तियों में वैदिक श्रीकृष्ण का सांकेतिक उल्लेख है तथा तीसरी-चौथी पंक्तियों में आभीर कृष्ण का। क्योंकि पूर्व ही कहा गया था:—

ऊधो को यों सदुख जब ये गोप बातें सुनाते।
आभीरों का एक-दल वां उसी काल आया।

और इसके उपरांत भी,

यों सर्व वृत्त कहके बहु उन्मना हो
आभीर ने वदन उधव का बिलोका।

एवं अपने नेता का गुणानुवाद किया; पर उनका यह नेता महाभारत के कृष्ण का पूरक है, जो स्वयं वैदिक कृष्ण से प्रभावित है। उसका संदेश—

जो होता है निरत तप में मुक्ति की कामना से।
आत्मार्थी है, न कह सकते हैं उसे आत्मत्यागी।
जिसे प्यारा जगत-हित औ लोक सेवा जिसे है।
प्यारी सच्चा अवनि-तल में आत्मत्यागी वही है।

उन्हें कर्त्तव्यपरायण नवयुवक की उपाधि देता है! यथार्थ में वे इसी योग्य हैं:—

अतः सबों से यह श्याम ने कहा।
स्व—जाति-उद्धार महान्—धर्म है।
चलो करें पावक में प्रवेश औ
स—धेनु लेवें निज जाति को बचा।

उनपर आधुनिकता की छाप है। परिणामतः वे देश एवं राष्ट्र की सेवा के लिए कटिबद्ध हैं:—

ऐसा विलोक वर-बोध स्वभाव से ही।
होता सु-सिद्ध यह है वह हैं महात्मा॥

कारण कि

अपूर्व आदर्श दिखा नरत्व का
प्रदान की है पशु को मनुष्यता।
सिखा उन्होंने चित की समुच्चता।
बना दिया मानव गोप-वृन्द को॥

वास्तव में हरिऔध पर बुद्धिवाद का प्रभाव पड़ा है; पर वे स्वयं बुद्धिवादी नहीं हैं, जिसके कारण उनके कृष्ण नृरत्न, महात्मा एवं कर्मठ व्यक्ति हो गये हैं। 'गिरीश' के शब्दों में:—"श्रीकृष्ण के हृदय और मस्तिष्क का, मनोविकारों और बुद्धि का, अनुराग और विवेक का यह संघर्ष बड़ा ही मुग्धकर है, और उससे भी अधिक आनन्दप्रद् यद्यपि उतना ही कठोर है श्रीकृष्ण का अपनी मानवोचित दुर्बलता पर विजय-लाभ।" अतः उनके कृष्ण को हम हिन्दी साहित्य की परम्परागत भावनाओं के विकास के अनुरूप चित्रित पाते हैं। सच तो यह है कि भारतेन्दु के बाद हमारे साहित्य में लोक-संग्रह के भाव अधिक स्थान पाने लगे। "प्रियप्रवास-दर्शन" के लेखक की दृष्टि में भी हरिऔध की लोकजीवन से सम्बन्ध-स्थापन की वृत्ति के पीछे भारतेन्दु के उपयुक्त प्रभाव का रहस्य ही निहित है। भारतेन्दु के समय से ही हमारे साहित्य में देश-प्रेम, जाति अनुराग, स्त्री-शिक्षा आदि की भावनाएँ अधिक से अधिक सजीव रूप में अभिव्यक्त होने लगीं। हरिऔध ने इन्हीं भावनाओं का समुचित निर्वाह अपने अतुलनीय कृष्ण एवं

राधा के चरित्र में सफ़लतापूर्वक किया है। बंकिम के "कृष्णचरित्र" का भी असर हरिऔध पर पड़ा है, जो निर्विवाद सत्य है। जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है, हरिऔध पर 'द्विवेदी युग' का प्रभाव पड़ा है, इसी से वे भी शील एवं मर्यादा के कट्टर समर्थक तथा रीति एवं शृंगार के घोर विरोधी हैं। यही कारण है कि उनके कृष्ण सूरदास के कृष्ण के समान 'रसः वै सः' नहीं हो सके और उनकी रासलीला कौमुदी-महोत्सव में परिणत हो गयी—

पुत्र-प्रिया-सहित मंजुल राग गा-गा।
ला-ला स्वरूप उनका जन-नेत्र आगे।
ले-ले अनेक उर-वेधक चारु तानें,
की श्याम ने परम मुग्धकरी क्रियायें।

और हमारे सामने उसका एक उज्ज्वस्वलित चित्र खड़ा हुआ।

इसमें सन्देह नहीं कि भारतेन्दु के श्रीकृष्ण उनके केवल उपास्य देव रह गये, इसलिए उन्होंने तटस्थ होकर उनके लोक-कल्याणकारी रूप का चित्रण नहीं किया। यह सौभाग्य हरि-औध जी के हिस्से में पड़ा। उन्होंने भारतेन्दु द्वारा प्रसारित लोकरक्षण की भावना को श्रीकृष्ण के चरित्र में विन्यस्त करके अपने महान् काव्य प्रि० प्र० में उसे स्थायित्व प्रदान किया। हिन्दी की इस धारा के विकास से परिचित पाठकों को हरि-औध के श्रीकृष्ण के चरित्र में कोई असंगति नहीं दीख पड़ेगी और न ब्रह्मचारीजी की इस उक्ति में कोई तथ्य—

"वर्तमान कालीन बुद्धिवाद कभी भी ऐसी परिस्थिति में ऐसे आदर्श पराक्रमी नृरत्न के तीन कोस आने की असमर्थता को स्वीकार नहीं कर सकता।" क्योंकि इस युग के कर्मण्य

महात्मा गांधी भी नोआखाली से दिल्ली तथा बिहार तक आने में उस समय असमर्थ रहे जिस समय यहाँ इनका आना आवश्यक था। जिस व्यक्ति की कर्तव्य-भावना जितनी ही ऊँची होगी, वह अपने काम में उतना ही ज्यादा एकाग्र रहेगा और उसे मनोरञ्जन एवं विश्राम के लिए किंचित् समय नहीं मिलेगा। इन बातों को साधारण बुद्धिजीवी भी समझ सकता है। हरिऔध पर सच्चे अर्थ में बुद्धिवादी युग का प्रभाव तब पड़ता जब वे 'शंकर' या 'बेढव' बनारसी या बेनीपुरी के समान श्रीकृष्ण को हास्यास्पद बनाने की चेष्टा करते या रहस्यवादी कवियों की तरह उन्हें अव्यक्त, परोक्ष एवं ह्रासोन्मुख मानते। यह तो सर्वविदित है कि जब भावुकता का संयोग बुद्धिवाद से होता है तब प्राचीन मान्यताओं के प्रति शंका एवं अस्वीकृति का भाव सर्वत्र प्रधान हो उठता है और तब स्वातंत्र्य-संग्राम से विमुख इट्स और रवीन्द्र का उदय होता है। अस्तु, हरिऔध की इन पंक्तियों में—

> लख अपार प्रसार गिरीन्द्र में।
> व्रज-धराधिप के प्रिय पुत्र का।
> सकल लोग लगे कहने उसे।
> रख लिया उंगली पर श्याम ने॥

बुद्धिवाद का प्रभाव नहीं प्रत्युत् उक्ति-वैचित्र्य लक्षित है। अलबत्ता उनके श्रीकृष्ण पर सिख-संप्रदाय की कुछ छाप पड़ी है:—

> अवश्य हिंसा अति-निंद्य कर्म है।
> तथापि कर्तव्य-प्रधान है यही।
> न सद्म हो पूरित सर्प आदि से।
> वसुंधरा में पनपें न पातकी॥

तो भी इस कृष्ण में और महाभारत के कृष्ण में बहुत कम अन्तर है क्योंकि हरिऔध की दृष्टि समन्वयवादी है। इस महान् कृष्ण का ध्यान कर राधा भी महान् हो जाती है। यह विराट् कृष्ण विश्व का विशाल रूप है क्योंकि यह दुखी संसार का सेवक है। इसी से राधा ने उन्हें जगत् के नित्यरूप में—प्रकृति के पलपल में पलटने वाले संवेदनशील पटल में देखा और प्राप्त किया:—

हो जाने से हृदयतल का भाव ऐसा निराला।
मैंने न्यारे परम गरिमावान दो लाभ पाये।
मेरे जी में हृदय विजयी विश्व का प्रेम जागा।
मैंने देखा परम प्रभु को स्वीय प्राणेश ही में॥

जिसने अपने प्रेम के बल से देवता को प्रिय बना लिया, क्या वह प्रिय को देवता नहीं बना सकती थी? राधा को साधना का अवसर देने के लिए ही हरिऔध का नारायण नर का शरीर नहीं धारण करता प्रत्युत् उनका नर ही नारायण की कीर्ति प्राप्तकर हमारे हृदय में अमरत्व लाभ करता हुआ प्रतिष्ठित होता है। ऐसे भगवान् को हम मध्य युग की आराधना-धारा में ढूँढ़ सकते हैं। यह भगवान् सर्ववादी है, अतएव इसका आभास विश्व के कण-कण में मिलता तो है लेकिन इसका निर्माण भी जगत् के अणु-परमाणुओं से होता है जिसके कारण यह संसार के संघर्ष से परे नहीं। इसे कोई स्वार्थ की सीमा में बाँध कैसे सकता है? इसकी प्राप्ति के लिए महान् बनना ही पड़ेगा।

डॉ० जनार्दन मिश्र के अनुसार "कवि ने अपने युग के युवक और युवतियों का आह्वान कर कहा है कि प्रिय वासना

का प्रवास कराओ और कर्तव्य-पथ में अड़कर राधा और कृष्ण के समान अपने स्त्रीत्व और पुरुषत्व का परिचय दो।" यही कवि का अति आधुनिक संदेश है जिसे टालस्टाय ने अपनी श्रेष्ठ पुस्तक "पुरुष-स्त्री" में व्यक्त किया है और गांधी ने अपने प्रसिद्ध प्रवचनों में प्रकट किया है। राधा ने जिस पथ का अनुसरण किया वह वर्त्तमान युग के लिए अनुकरणीय है। क्योंकि,

> आशा भूलूँ न प्रियतम की विश्व के काम आऊँ।
> मेरा कौमार-व्रत भव में पूर्णताप्राप्त होवे॥

इस आदर्श को उनकी सहेलियों—गोपियों ने अपनाया। इसका यह तात्पर्य नहीं कि उन्होंने 'रस-कलस' जैसी देश प्रेमिका वर्ग में आने वाली नायिकाओं के पदों को स्वीकार किया। देखिये—

> जो थीं कौमार-व्रत-निरता बालिकायें अनेकों
> वे भी पाके समय व्रज में शांति विस्तारती थीं।
> श्रीराधा के हृदय-बल से दिव्य शिक्षा गुणों से।
> वे भी छाया-सदृश उनकी वस्तुतः हो गई थीं।

और यहीं पर वे राज कवि टेनिसन की 'प्रिंसेस' तथा कवीन्द्र रवीन्द्र की विमला तथा एला से अपेक्षाकृत उत्तम हैं क्योंकि ये न तो नायिकाएँ हैं और न प्रेमिकाएँ। कौमारव्रत का यही आदर्श पं० नन्दकिशोर तिवारी के 'स्मृतिकुंज' के फूल का संबल बना। यह उसके पत्र से भलीभाँति प्रतीत होता है:—

"प्रियतम, आपके वियोग का स्मरण कर:मेरा मन अत्यन्त

खिन्न हो जाता है, और परिस्थितियों का अनुभव कर जब मेरा चित्त भाँति-भाँति की निराशाओं से व्यथित हो उठता है, उस समय "प्रियप्रवास" ही मेरे डूबते जीवन का सहारा होता है।"

न मालूम प्रि० प्र० कितने डूबते जीवन, कितने भग्न-हृदय का सहारा हो रहा है। क्या राधा और कृष्ण के आदर्शों का पालन करके आज हम अपने समष्टिगत जीवन को महान् नहीं बना सकते? यदि हाँ, तो प्रि० प्र० निश्चय ही एक महान् काव्य है। यद्यपि ब्रह्मचारीजी ने सिद्ध किया है—

"भारतेन्दु ने अपनी प्रतिभा की संजीवनी पिलाकर खड़ी बोली कविता के चलने के प्रथम प्रयास का परिचय तो दिया किन्तु उन्होंने खड़ी बोली का कोई प्रबन्धात्मक काव्य नहीं रचा। वर्षों बाद तक खड़ी बोली में फुटकल पद्य और छोटे-मोटे खण्ड काव्यों का यत्र-तत्र आविर्भाव हुआ किन्तु यह श्रेय इस युग में पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय को है कि उन्होंने 'प्रिवप्रयास' जैसा विशालकाय महाकाव्य खड़ीबोली के कर-कमल में अर्पित किया × × × × × × आज भी खड़ी हिन्दी में महाकाव्यों की संख्या इनी-गिनी और उनमें 'प्रियप्रयास' का स्थान अग्रगण्यता की दृष्टि से आदरणीय है। × × × × किन्तु 'प्रियप्रवास' की रचना ने मानो खड़ी बोली के आशामय भविष्य पर साफल्य की मुहर लगा दी और खड़ी हिन्दी साहित्य के इतिहास में वह काव्य एक मील के स्तम्भ (Milepost) के रूप में अमर हो गया।" प्रभृति। तथापि प्रि० प्र० महाकाव्य है या नहीं—अब यह प्रश्न ही नितांत अनावश्यक है। डॉ० जनार्दन मिश्र ने भी लिखा है —

शैली-विन्यास और द्विवेदी

अर्थगत विशेषता के आधार पर है। भाषा और अभिव्यंजन-प्रणाली की विशेषता—शैली की विशेषता-खड़ी हो सकती है।

—रामचन्द्र शुक्ल

[कई एक मित्रों के बीच एक बार—परीक्षा सम्बन्धी प्रश्नों पर—बातें हो रही थीं। बातचीत का विषय था "हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ शैलीकार"। किसी ने शुक्लजी का नाम लिया। किसी ने प्रेमचंदजी का; तो किसी ने द्विवेदीजी का। एक ने शुक्लजी को केवल समालोचक माना, दूसरे ने प्रेमचन्द जी को मात्र कथाकार; तो तीसरे ने द्विवेदीजी को सिर्फ सम्पादक। एक निर्णय पर आना कठिन था। लेकिन बहुत वाद-विवाद के बाद यह निश्चय हुआ कि सचमुच द्विवेदीजी ही हिन्दी के शैलीकार हैं क्योंकि इनकी रचना का मुख्य उद्देश्य शैली-विन्यास है जब कि अन्य दोनों लेखकों का कुछ और है! शायद यह सम्मति किसी परीक्षक को स्वीकार न हो क्योंकि इसका फल अच्छा नहीं भी मिल सकता है; पर हमें देखना है कि पाठकों को यह कहाँ तक मान्य है? इसीलिए इसे लिपिबद्ध किया गया है।]

"आधुनिक कविता" नामक पद्य-संग्रह की भूमिका में डॉ० धीरेन्द्र वर्मा तथा डॉ० रामकुमार वर्मा ने लिखा है कि भारतेन्दु ने खड़ी बोली को पद्य के क्षेत्र में स्थान नहीं दिया क्योंकि उन्होंने इसे भावविन्यास के उपयुक्त नहीं समझा। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने ही इसे इस क्षेत्र में लाने का अभिनन्दनीय प्रयास किया। इसी मार्ग पर चलकर मैथिलीशरण गुप्त ने उनके स्वप्नों को सत्य का रूप दिया। स्वयं द्विवेदीजी ने ही लिखा है कि "कविता के बिगड़ने और उसकी सीमा परिमित हो जाने से साहित्य पर भारी आघात होता है।" यह भी कहा है—"इस तरह की कविता सैकड़ों वर्षों से होती आ

रही है। अनेक कवि हो चुके जिन्होंने इस विषय पर न मालूम क्या-क्या लिख डाला है। इस दशा में नए कवि अपनी कविता में नयापन कैसे ला सकते हैं।" इससे यह साफ मालूम पड़ता है कि द्विवेदीजी खड़ी बोली में ही नवीन भावों के अभिव्यक्त होने का स्वप्न देखते थे और इसीलिए उन्होंने कवियों को इसी में कविता लिखने के लिए प्रोत्साहन दिया ताकि काव्य भी अपने क्षेत्र में पूर्णता प्राप्त कर सके। नहीं तो जिस छायावाद में इन्होंने अस्पष्टता का दोष पाया उसके पूर्वलक्षणों को वे पं० श्रीधर पाठक की स्वच्छन्दतावादी कविताओं में परिलाक्षित देखकर भी उनका विरोध नहीं कर सके। 'कविता-कलाप' में प्रच्छन्न शृंगार का वर्णन भी इनका मराठी संस्कार सह गया। इन सारी बातों से यही प्रमाणित होता है कि द्विवेदीजी ने पद्य को भावों के प्रतिपादन के लिए ही निर्दिष्ट किया। "अतएव, बहुत संभव है कि किसी समय हिन्दी के गद्य और पद्य की भाषा एक ही हो जाय।" उनके इस कथन का यह तात्पर्य नहीं कि गद्यमय पद्य उत्कृष्ट कविता है। यदि यही उपयुक्त है तो द्विवेदीजी की कृतियों पर पं० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा लगाये गये आक्षेपों का कोई महत्त्व नहीं।

हाँ, उनका प्रक्षालन करते हुए उमेशचन्द्र मिश्र ने "द्विवेदी काव्य-माला" की भूमिका में निम्नलिखित विचार प्रकट किया है—"द्विवेदीजी की कविता के लिए इतिवृत्तात्मकता का आरोप नया नहीं है। यह आरोप तो उतना ही पुराना है, जितनी पुरानी उनकी यह नये प्रकार की कविता है। काव्य-जगत् में यह एक नवीन युग का प्रवर्त्तन था। द्विवेदीजी ने मध्यकाल से चली आती हुई काव्य की समस्त परंपराओं को छिन्न-भिन्न कर दिया। काव्य का विषय और काव्य का स्वरूप—भाषा-

शैली और छंद–दोनों बदल गये। "(पृ० १४)।" चारों ओर के वातावरण का प्रभाव कवि पर अवश्य पड़ता है। जब वातावरण में गद्यात्मक भावनाएँ प्रबल होती हैं तब प्रयत्न करने पर भी काव्य में उन्हें नहीं बचाया जा सकता ! ....उन दिनों समाज-सुधार; कुरीति-निवारण; स्वदेशी-प्रचार; हिन्दी-प्रेम आदि भावनायें हिन्दू-जीवन से ऐसी सम्बद्ध हो रही थीं, और 'घरे-बाहरे' सर्वत्र उनकी ऐसी चर्चा थी कि कवि अपने को इनसे अलग रखकर अनाम-अरूप कला की आराधना करने में स्वयं को असमर्थ पाता था। अत: उन दिनों की कविताओं में यदि हमें इतिवृत्तात्मकता का प्रचार मिले तो यह स्वाभाविक ही है। पर जिस व्यक्ति ने अपनी कोमल-से कोमल भावनाओं को हमारी भाषा के लिए, हमारे हित के लिए भीतर ही भीतर घुटकर मर जाने दिया और कवियों की अमरता को ठुकरा कर एक सेनानी की मृत्यु मरना स्वीकार किया, उनकी व्यक्त, अर्द्धव्यक्त और अव्यक्त भावनाओं को "बातों के संग्रह" या इतिवृत्तात्मक "जैसे स्थूल शब्द से याद करना घोर इतिवृत्तात्मकता का परिचय देना है।" (पृ० १९)।

आ० शुक्लजी ने अपने ग्रंथ "हिन्दी साहित्य का इतिहास" में आचार्य द्विवेदी के काव्यों तथा निबन्धों की आलोचना करते हुए लिखा है—"पर उनका जोर बराबर इस बात पर रहता था कि कविता बोलचाल की भाषा में होनी चाहिए। बोलचाल से उनका मतलब ठेठ या हिन्दुस्तानी का नहीं रहता था, गद्य की व्यावहारिक भाषा का रहता था। परिणाम यह हुआ कि उनकी भाषा बहुत अधिक गद्यवत् (Prosaic) हो गयी। पर जैसा कि गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है—"गिरा-अर्थ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न"—भाषा से विचार

अलग नहीं रह सकता। उनकी अधिकतर कविताएँ इति वृत्तात्मक (Matter of fact) हुईं। उनमें वह लाक्षणिकता चित्रमयी भावना और वह वक्रता बहुत कम आ पाई जो रस-संचार की गति को तीव्र और मन को आकर्षित करती है। 'यथा', 'सर्वथा', 'तथैव' ऐसे शब्दों के प्रयोग ने उनकी भाषा को और भी अधिक गद्य का स्वरूप दे दिया।" (पृ० ६८२)। "लिखने की सफलता वे इस बात में मानते थे कि कठिन से कठिन विषय भी ऐसे सरल रूप में रख दिया जाय कि साधारण समझ वाले पाठक भी उसे बहुत कुछ समझ जायँ। कई उपयोगी पुस्तकों के अतिरिक्त उन्होंने फुटकल लेख भी बहुत लिखे। पर इन लेखों में अधिकतर लेख 'बातों के संग्रह' के रूप में ही हैं। भाषा के नूतन शक्ति-चमत्कार के साथ नए-नए विचारों की उद्भावना वाले निबन्ध बहुत ही कम मिलते हैं। स्थायी निबन्धों की श्रेणी में दो ही चार लेख जैसे, 'कवि और कविता,' 'प्रतिभा' आदि आ सकते हैं। पर ये लेखन-कला या सूक्ष्म विचार की दृष्टि से लिखे नहीं जान पड़ते।" (पृ० ५६२)।

यद्यपि शुक्लजी ने द्विवेदीजी की रचनाओं पर उपर्युक्त उद्धरणों में दोषारोपण किया है; तो भी उन्होंने उनके महत्त्व को कम करने का प्रयत्न नहीं किया है। उसी पुस्तक में उन्होंने अन्यत्र यह भी व्यक्त किया है—"खड़ी बोली के पद्य-विधान पर भी आपका पूरा-पूरा असर पड़ा। पहली बात तो यह हुई कि उनके कारण भाषा में बहुत कुछ सफाई आई। बहुत-से कवियों की भाषा शिथिल और अव्यवस्थित होती थी और बहुत से लोग व्रज और अवधी आदि का मेल भी कर देते थे। 'सरस्वती' के सम्पादन-काल में उनकी प्रेरणा से

बहुत से नए लोग खड़ी बोली में कविता करने लगे। उनकी भेजी हुई कविताओं की भाषा आदि दुरुस्त करके वे 'सरस्वती' में दिया करते थे। इस प्रकार के लगातार संशोधन से धीरे-धीरे बहुत-से कवियों की भाषा साफ हो गई। उन्हीं नमूनों पर और लोगों ने भी अपना सुधार किया।" (पृ० ६८०)। "पर द्वितीय उत्थान के भीतर बहुत दिनों तक व्याकरण की शिथिलता और भाषा की रूपहानि दोनों साथ-साथ दिखाई पड़ती रहीं। व्याकरण के व्यतिक्रम और भाषा की अस्थिरता पर तो थोड़े ही दिनों में कोपदृष्टि पड़ी, पर भाषा की रूपहानि की ओर उतना ध्यान नहीं दिया गया। पर जो कुछ हुआ वही बहुत हुआ और उसके लिए हमारा हिन्दी-साहित्य पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी का सदा ऋणी रहेगा। व्याकरण की शुद्धता और भाषा की सफाई के प्रवर्तक द्विवेदीजी ही थे। 'सरस्वती' के सम्पादक के रूप में उन्होंने आई हुई पुस्तकों के भीतर व्याकरण और भाषा की अशुद्धियाँ दिखा-दिखाकर लेखकों को बहुत कुछ सावधान कर दिया।......गद्य की भाषा पर द्विवेदीजी के इस शुभ प्रभाव का स्मरण, जब तक भाषा के लिए शुद्धता आवश्यक समझी जायगी, तब तक बना रहेगा। (पृ० ५३६—४०)।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शुक्लजी द्वारा की गयी द्विवेदी जी की समीक्षा बहुत अंशों में उपयुक्त है क्योंकि किसी साहित्यिक की आलोचना करने के पूर्व हमें यह निश्चय कर लेना चाहिए कि उसका क्षेत्र क्या है? और तब यह निर्णय करना चाहिए कि उस क्षेत्र में उसे सफलता मिली है या नहीं? सो श्री उमेशाचन्द्र मिश्र ने उसी पुस्तक की भूमिका में एक स्थान पर यह स्वीकार किया है—"पूज्य द्विवेदीजी जन्मजात

नेता थे। अपने कार्यक्षेत्र में सदैव नवीन परिवर्तन लाते रहने की प्रवृत्ति उनमें पद्-पद् पर पाई जाती है।...............हम इसे भी उनकी सफलता मानते हैं; पर कवि की नहीं, नेता की। इस मार्ग के सुचालित हो जाने पर द्विवेदीजी की प्रतिभा ने फिर नई करवट ली। ब्रजभाषा का काव्य-भाषा पर एकाधिकार उन्हें अस्वाभाविक लगने लगा, अतः उन्होंने प्रचलित बोलचाल की भाषा को काव्यक्षेत्र में लाने का आयोजन किया। फलस्वरूप खड़ी बोली के लिए ब्रज-भाषा को स्थान खाली कर देना पड़ा। यहाँ भी उनके नेतृत्व की विजय हुई। उनका कवि शनैः शनैः इस नेता के नीचे दब गया।..................द्विवेदीजी के हृदय में काव्य-भावना आरंभ से ही थी और यदि उन्हें भाषा-निर्माण के कार्य में न पड़ना होता तो वे एक उच्च कोटि के कवि होते। द्विवेदीजी का कवि उनके समीक्षक से कहीं अधिक श्रेष्ठ था। परन्तु परिस्थितियों ने तथा उनकी जन-कल्याण की पूत प्रेरणा ने उनके समीक्षक को हठात् अधिक प्रबल कर दिया। (पृ० ७–६)। फिर भी द्विवेदीजी को कवि सिद्ध करने का आपका आग्रह क्यों इतना प्रबल है, यह समझ में नहीं आता? यद्यपि आप कहते हैं—"स्थूल दृष्टि से देखने पर ऐसा लगता है कि कवि किसी विशेष भावना से अनुप्राणित होकर नहीं लिखता। संयोगवशात् जो विषय सामने आ जाता है उसी पर लिखने लगता है। उसका उद्देश्य मनोविकारों का चित्रांकन तथा भावों का व्यक्तीकरण नहीं; बल्कि भाषा और छंदों का प्रदर्शन ही है। बात बहुत कुछ ठीक अवश्य है परन्तु उतनी ही जितनी कि किसी व्यक्ति की वेशभूषा देखकर उसके विचारों के विषय में हमारा

अनुमान। इसमें सन्देह नहीं कि द्विवेदीजी के काव्य में वेश का आकर्षण अधिक है और उनकी भूमिकाएँ खुले शब्दों में घोषित करती हैं कि वे छंदों के प्रयोग के लिए या भाषा के नमूने दिखाने के लिए किसी संस्कृत-काव्य का अनुवाद कर रहे हैं, या मौलिक पुस्तक लिख रहे हैं; परन्तु यदि हम उनकी भूमिकाओं को प्रमाण-रूप में उद्धृत करके उनके काव्य की आत्मा वेश के नीचे छिपे हुए हृदय को—देखने से इनकार कर दें तो यह बड़ी भारी भूल होगी।.................चाहे द्विवेदीजी ने छंदों के प्रदर्शन के लिए लिखा हो, चाहे भाषा के नमूने के लिए अथवा केवल मनोरंजन के लिए किसी संयोगवश प्राप्त विषय पर लेखनी चलाई हो, उनके समस्त काव्य में एक भावना निरंतर पाई जाती है। कभी हम उसे स्पष्ट रूप से व्यक्त हुआ पाते हैं; कभी केवल उसका आभास मात्र मिल सकता है, और कभी वह ओझल-सा होने लगता है; परन्तु ऐसे स्थलों पर भी उनके काव्य के वातावरण में वह इस प्रकार घुली-मिली रहती है कि यदि हम उनके कवि के व्यक्तित्व से परिचित हों तो उसके समझने में भूल नहीं कर सकते।.........उस समय उनकी अभिव्यक्ति के प्रकार को भले ही इतिवृत्तिमय कहा जा सके, काव्य की कोमल भावनाओं से शून्य होने का आरोप उनपर नहीं लगाया जा सकता।........ वही छंदों में गुँथ कर कभी बाल विधवाओं के, कभी कान-कुब्ज-कन्याओं के, कभी नागरी के, कभी दुर्भिक्ष-पीड़ितों के और कभी कुल मिलाकर दयनीय भारतीयों के असहाय करुण-विलाप के रूप में प्रकट हुई है। उसी करुणा ने आज की समीक्षा में 'इतिवृत्तात्मकता' का नाम पाया है।......... क्योंकि उसी में द्विवेदीजी का कवि, जो विभिन्न भावनाओं के

साथ संघर्ष करता हुआ एक निश्चित दिशा की ओर अग्रसर हो रहा था, अपने व्यक्तित्व को लीन करता हुआ दिखाई देता है।' (पृ० ६-१४)।

कदाचित् आधुनिक मनोविश्लेषक समीक्षक के समान आपका भी उद्देश्य द्विवेदीजी के काव्य की मूल प्रेरणाओं का अन्वेषण तथा उद्घाटन करके उनकी परीक्षा करना है। अतः यह प्रयोग आपने शुक्लजी की आलोचना रूपी पृष्ठभूमि पर किया है। परन्तु इसकी क्या आवश्यकता थी जब कि शुक्लजी ने उन्हें कवि स्वीकार कर लिया है और आपने भी एक तरह से उनके कवि को ही प्रकाश में लाने की व्यग्रता दिखाकर भी यह मान लिया है कि 'उनकी अभिव्यक्ति का प्रकार इतिवृत्ति-मय है, और 'उन्होंने कविकर्म को छोड़कर' 'उग्र समीक्षक' तथा 'व्यंग्य-प्रहारक' का रूप धारण किया? किन्तु नहीं; आप की मीमांसा से यह पता लग गया कि द्विवेदीजी ने अपने काव्य (पद्य) की शैली में 'अपने व्यक्तित्व को लीन कर दिया' है। लेकिन तब एक प्रश्न सामने आता है कि जब उन्होंने कवि-कर्म को छोड़कर समालोचक का रूप ग्रहण किया तब उनके गद्य की शैली में भी उनका वही व्यक्तित्व अर्थात् अपने आपको छिपाने वाला व्यक्तित्व क्यों नहीं प्रस्फुटित हुआ? मगर इसके विपरीत आप उनके गद्य में उनका दूसरा ही रूप पाते हैं!

डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा अपने ग्रंथ "हिन्दी की गद्य शैली का विकास" में द्विवेदीजी को तीन भिन्न-भिन्न भाषा-शैलियों में लिखते हुए पाते हैं। उनकी व्यवस्था की व्याख्या करते हुए प्रेमनारायण टंडन ने अपनी पुस्तक "द्विवेदी-मीमांसा" में निम्नलिखित बातों का निर्देश किया है—"भाव-प्रकाशन की

दृष्टि से लेखन की शैली प्रायः विषयानुकूल हो जाती है। इस प्रकार एक ही लेखक की अनेक शैलियाँ हो सकती हैं; लेकिन ऐसा होता नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति का अपना एक प्रिय विषय होता है और उसी के अनुसार उसकी एक निजी शैली रहती है। द्विवेदीजी इस नियम के अपवाद माने जा सकते हैं। वे सम्पादक थे और उनका प्रादुर्भाव ऐसे समय में हुआ था जब इतिहास, पुरातत्त्व, विज्ञान, अध्यात्मविद्या, संपत्ति शास्त्र, शासन-पद्धति आदि विषय न तो साहित्य के अन्तर्गत ही समझे जाते थे और न इन विषयों के लेख ही प्रकाशित होते थे। जब उन्होंने ऐसे ही कुछ नवीन विषयों पर लेख लिखे और लिखवाये, तब उनकी विभिन्न शैलियों का प्रचलित हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। (पृ० १७२-७३)। लेकिन जरा आगे बढ़ने पर आपने द्विवेदी जी की तीन विभिन्न शैलियों को एक ही शैली मान लिया है—"पर उपर्युक्त सभी विषय द्विवेदीजी के प्रिय विषय नहीं थे। उनका उद्देश्य और लक्ष्य हिन्दी-भाषा का परिष्कार, उसका प्रचार और हिन्दी-साहित्य की उन्नति करना रहा था। इसके लिए उनको आलोचना के प्रचलित ढंग का आश्रय लेना पड़ा था। यों उन्होंने एक विशिष्ट लेखन-शैली-आलोचनात्मक—को जन्म दिया जो उनकी निजी शैली है। उनकी आलोचनात्मक शैली के हम ३ भेद कर सकते हैं—(१) आदेशपूर्ण, (२) ओजपूर्ण और (३) भावपूर्ण.........लगभग २० वर्ष द्विवेदी जी 'सरस्वती' के सम्पादक रहे और अंत तक परिस्थिति में बहुत अधिक परिवर्तन नहीं हुआ। यही कारण है कि प्रायः प्रत्येक मास की 'सरस्वती' में उक्त तीनों शैलियों के नमूने मिल जाते हैं। इनके अतिरिक्त आलोचनात्मक शैली

का एक और रूप हमें मिलता है जिसकी भाषा कुछ गंभीर हो गयी है। ....भाषा की सरलता, मुहावरेदानी और सजीवता की दृष्टि से द्विवेदीजी की यही प्रधान शैली मानी जा सकती है। इसका कारण यह है कि अधिकांश में इसी भाषा का व्यवहार और उपयोग उन्होंने किया है। इसमें उर्दू और संस्कृत, दोनों ही के तत्सम और तद्भव शब्दों का प्रयोग किया गया है। वाक्यों में ओज का केवल पुट है, पर गंभीरता की झलक भी स्पष्ट है। यह शैली संयत भी है और सजीव भी। इसी शैली को हम उनकी प्रधान शैली मान लेते हैं, जिनके दो अन्य शैली-रूप विपरीत दिशाओं में जाते हैं। वे दोनों हैं—(१) व्यंग्यात्मक, (२) गवेषणात्मक या वर्णनात्मक। "यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो उनकी व्यंग्यात्मक शैली आलोचनात्मक शैली से पृथक् नहीं की जा सकती। इसका कारण स्पष्ट है। जिस उद्देश्य और आदर्श को लेकर उन्होंने साहित्य में पदार्पण किया था और जिसके लिए उन्हें आलोचनात्मक शैली की आवश्यकता पड़ी थी, उसीके लिए उन्होंने प्रायः व्यंग्य का ही प्रयोग किया है।" (पृ० १७६–१८१)

"यहीं पर डॉ० शर्मा और आपके निष्कर्षों में साधारण मतभेद है। नहीं तो, दोनों सज्जनों में विचारसाम्य है। शर्माजी ने अपनी उपर्युक्त पुस्तक में लिखा है— "अधिकांश रूप में द्विवेदीजी की शैली यही है। इनकी अधिक रचनाओं में एवं आलोचनात्मक लेखों में इसी भाषा का व्यवहार हुआ है। इसमें उर्दू के भी तत्सम शब्द हैं और संस्कृत के भी। वाक्यों में बल कम नहीं हुआ परन्तु गंभीरता का प्रभाव बढ़ गया है। इस शैली के संचार में वह उच्छृंखलता

नहीं है, वह व्यंग्यात्मक मसखरापन नहीं है जो पूर्व के अवतरण में था। इसमें शक्तिशाली शब्दावली में विषय का प्रतिपादन हुआ है; अतएव भाषा-शैली भी अधिक संयत तथा धारावाहिक हुई है। इसी शैली में जब वे उर्दू की तत्समता निकाल देते हैं और विशुद्ध हिन्दी का रूप उपस्थित करते हैं तब हमें उनकी गवेषणात्मक शैली दिखाई पड़ती है। यों तो आपके अनुसार भावव्यंजना में भी दुरूहता आ ही जाती है,........इसकी भाषा और रचना-प्रणाली ही चिल्लाकर कहती है कि इसमें गंभीर विषय का विवेचन हो रहा है। परन्तु द्विवेदीजी की साधारण शैली के अनुसार यह कुछ बनावटी अथवा गढ़ी हुई ज्ञात होती है।" (पृ० ७८–७६)

कहने की आवश्यकता नहीं कि आपने द्विवेदीजी के उन्हीं निबन्धों की शैली को यहाँ गवेषणात्मक, बनावटी तथा गढ़ी हुई कहा है, जिन्हें शुक्लजी ने 'लेखन-कला या सूक्ष्म विचार की दृष्टि से लिखे नहीं जान पड़ते' कहकर भी स्थायी निबन्धों की श्रेणी में स्थान दिया था। वास्तव में बात यह है कि डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने भी अपनी "ग्रामीण हिन्दी" नामक पुस्तिका में साहित्यिक खड़ी बोली की साधारण हिन्दी का उदाहरण उपस्थित करते हुए पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी की 'समालोचना-समुच्चय' शीर्षक पुस्तक के उद्धरणों को ही उद्धृत किया है। इससे यह ज्ञात होता है कि डॉ० वर्मा द्विवेदीजी की गद्य-शैली को ही हिन्दी का आदर्श मानते हैं।

अस्तु, जब हम "द्विवेदी अभिनन्दन ग्रंथ" की प्रस्तावना के पृष्ठों को उलटते हैं तब बाबू श्यामसुन्दर दास और रायकृष्ण दास को नीचे लिखी गयी बातों पर विचार प्रकट करते हुए

पाते हैं—"इन सबमें भाषा-संस्कार के इतिहास की प्रचुर सामग्री मिलेगी; किन्तु इनमें द्विवेदीजी का वह व्यक्तित्व बहुत कुछ ढूँढ़ने पर ही मिलेगा जो इस समय हमलोगों के सामने विशद रूप में आया है। उन्हें पढ़कर साहित्य का कोई विद्यार्थी सम्भवत: यह न कह सकेगा कि यह द्विवेदीजी की ही लेखनी है, और किसी की नहीं। आज से सौ वर्ष बाद का विद्यार्थी तो कदाचित् और भी द्विविधा में पड़ेगा। बात यह है कि द्विवेदीजी ने खड़ी बोली की भाषा-शैली की व्यवस्था अवश्य की है; उसमें निश्चय ही उनका निजत्व है। किन्तु वह व्यवस्था उनकी कलम के मँजने पर ही हुई है और वह निजत्व आते-आते आया है। उन्होंने केवल दूसरों की भाषा का ही नहीं, अपनी भाषा का भी मार्जन किया है। उनकी शब्द-सम्पत्ति और भाषा की संघटित प्रतिमा कालांतर में प्रतिष्ठित हुई है। तो क्या उनकी रचित कविताएँ प्रदर्शनी में रखी जाय? किन्तु वे तो स्वयं द्विवेदीजी के ही कथनानुसार 'कविता' नहीं हैं और हमारी दृष्टि से भी अधिकतर उपदेशामृत हैं। उनके लेख? 'हिन्दी भाषा की उत्पत्ति,' 'कालिदास की निरंकुशता,' 'मिश्रबन्धु का हिन्दी नवरत्न,' 'तिलक का गीताभाष्य' और ऐसे अन्य अनेक आलोचनात्मक लेख तथा टिप्पणियाँ द्विवेदीजी की जाग्रत प्रतिभा का परिचय कराते हैं। इनमें हिन्दी की भाव-प्रकाशिका शक्ति निस्संशय विस्तृत रूप में प्रकट हुई है। इनके द्वारा हिन्दी के समीक्षा-साहित्य का अवश्य शिलान्यास हुआ है। फिर भी प्रश्न यह है कि क्या यह स्थायी साहित्य है? द्विवेदी जी के दार्शनिक और आध्यात्मिक लेखों पर उनके कर्मठ जीवन और अन्तर की अनुभूति की छाप लगी है। उनमें विचारों की गहनता भी है और

उनका क्रम भी निर्धारित है। किन्तु द्विवेदी जी की ख्याति उन लेखों से नहीं है। उन्हें कोई संस्कृत का प्रकांड पंडित या दर्शन का सूक्ष्मदृष्टि अन्वेषक नहीं मानता।" (पृ० १–२)।

इतना लिख लेने के उपरांत आप लोग यह निर्णय करते हैं कि द्विवेदीजी के व्यक्तित्व की झाँकी उनके द्वारा सम्पादित लेखों में मिलती है न कि उनके अनुवादों में, काव्यों में, समालोचनाओं में अथवा आध्यात्मिक निबन्धों में। उन लेखों पर 'द्विवेदी कलम' की मुहर है और उनके द्वारा बीस वर्षों की सम्पादित 'सरस्वती' पर द्विवेदी-काल का 'लेबल' है; क्योंकि उनके ही शब्दों में "द्विवेदीजी के सरस्वती-सम्पादन का इतिहास ऐसे अनेक आन्दोलनों का इतिहास है। वह उनके व्यक्तित्व के विकास का इतिहास भी कहा जा सकता है।" यद्यपि आगे चलकर आपने कहा है कि उनकी लौह लेखनी का प्रयोग खड़ी बोली के गद्य-पद्य दोनों पर हुआ तथापि आपको उनकी कविताओं में 'काव्य कला का वास्तविक जीवन-स्पन्दन कहीं ही कहीं' मिला। इसलिए कि आपके अनुसार 'उस समय द्विवेदीजी जिस जरूरी काम में लगे हुए थे, उसे छोड़कर गीत गाने की फुर्सत भी तो हो।' अर्थात् काव्य-रचना उनके क्षेत्र की वस्तु नहीं थी। उनकी आलोचनाओं पर भी आपकी सम्मति बहुत कुछ महत्त्व रखती है—"कविता और साहित्य के विषय में द्विवेदीजी के विचार जानने की इच्छा बहुतों को होगी; परन्तु वे उनके फुटकर निबन्धों को पढ़कर कोई निश्चित धारणा नहीं बना सकेंगे। यह एक बात प्रत्यक्ष है कि उन्होंने उदात्त और लोकहितैषी विचारों के पक्ष में शक्ति-शाली प्रेरणा उत्पन्न की। कुमारसंभव के आदि के ही पाँच सर्गों का सार प्रकाशित करके उन्होंने अतिशय शृंगारिकता से हिन्दी को

बचाने का प्रयत्न किया। जब 'हिन्दी नवरत्न' में मिश्रबन्धुओं ने हिन्दी के नौ सर्वोत्तम कवियों की श्रेणी-शृंखला तैयार की और उनपर अपने विचार प्रकट किये, तब लोगों को हिन्दी कविता के सम्बन्ध में द्विवेदीजी की राय जानने का अवसर मिला। 'हिन्दी नवरत्न' की समीक्षा करते हुए द्विवेदीजी ने सबसे पहले यह प्रदर्शित किया कि कवियों के उत्कर्ष-अपकर्ष के निर्णय की एक व्यवस्था, एक क्रम होना चाहिए। किन्तु व्यवस्था क्या हो और क्रम कैसा हो, इसपर अधिक प्रकाश नहीं पड़ा।" (पृ० ४-५)।

किन्तु आगे चलकर आपने बतलाया है कि "द्विवेदीजी ने संस्कृत अथवा अंग्रेजी आदि के साहित्यिक सिद्धांतों का अनुसरण करके अपने विचार नहीं प्रकट किये, यह कहना ही मानों साहित्य-सरणी में उनकी गति जान लेना है। वे हिन्दी का साहित्य-शास्त्र लिखने नहीं बैठे थे। ....परन्तु इन प्रदेशों के निस्संपन्न; कर्मठ ब्राह्मण की भाँति द्विवेदीजी का शुष्क, सात्विक आचार साहित्य पर भी अपनी छाप छोड़ गया है जिसमें न कल्पना की उच्च उद्भावना है, न साहित्य की सूक्ष्म दृष्टि; केवल एक शुद्ध प्रेरणा है, जो भाषा का भी मार्जन करती है और समय पर सरल उदात्त भावों का भी सत्कार करती है। यही द्विवेदीजी की देन है। शुष्कता में व्यंग्य है, सात्विकता में विनोद है। द्विवेदी जी में ये दोनों ही हैं। स्वभाव की रुखाई, कपास की भाँति नीरस होती हुई भी, गुण-प्रद फल देती है। द्विवेदीजी ने हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में कपास की ही खेती की, 'निरस विशद गुणमय फल जासू'।

(पृ० ६)।

द्विवेदी जी की इसी समीक्षापद्धति के विषय में शुक्लजी

ने अपना भिन्न मत यों प्रकट किया है—"श्रीयुत पंडित महावीर प्रसादजी द्विवेदी ने पहले पहल विस्तृत आलोचना का रास्ता निकाला। ....स्थायी साहित्य में परिगणित होने वाली समालोचना, जिसमें किसी कवि की अन्तर्वृत्ति का सूक्ष्म व्यवच्छेद होता है, उसकी मानसिक प्रवृत्ति की विशेषताएँ दिखाई जाती हैं, बहुत ही कम दिखाई पड़ी।" (हिं० सा० का इ०, पृ० ५४२-४३)। "द्विवेदीजी की तीसरी पुस्तक "कालिदास की निरंकुशता" में भाषा और व्याकरण के वे व्यतिक्रम इकट्ठे किये गये हैं जिन्हें संस्कृत के विद्वान् लोग कालिदास की कविता में बताया करते हैं। यह पुस्तक हिन्दी वालों के या संस्कृत वालों के फायदे के लिए लिखी गई, यह ठीक-ठीक नहीं समझ पड़ता। जो हो, इन पुस्तकों को एक मुहल्ले में फैली बातों से दूसरे मुहल्ले वालों को कुछ परिचित कराने के प्रयत्न के रूप में समझना चाहिए; स्वतंत्र समालोचना के रूप में नहीं।" "यद्यपि द्विवेदीजी ने हिन्दी के बड़े-बड़े कवियों को लेकर गंभीर साहित्य-समीक्षा का स्थायी साहित्य नहीं प्रस्तुत किया; पर नई निकली पुस्तकों की भाषा आदि की खरी आलोचना करके हिन्दी साहित्य का बड़ा उपकार किया। यदि द्विवेदीजी न उठ खड़े होते तो जैसे अव्यवस्थित, व्याकरण-विरुद्ध और ऊटपटांग भाषा चारों ओर दिखाई पड़ती थी, उसकी परंपरा जल्दी न रुकती। उनके प्रभाव से लेखक सावधान हो गये और जिनमें भाषा की समझ और योग्यता थी उन्होंने अपना सुधार किया।" (वही, पृ० ५८४)।

अतः इन उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि द्विवेदीजी की यथार्थ शैली का निदर्शन उनकी समालोचनाओं में भी नहीं मिलता क्योंकि शुक्लजी के अनुसार ये 'स्थायी साहित्य' की

कोटि में नहीं आतीं। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है बाबू श्यामसुन्दर दास आदि द्विवेदीजी के व्यक्तित्व का आभास उनकी साहित्यिक समीक्षाओं में ही नहीं पाते वरन् उनके उन लेखों में भी उसका दर्शन करते हैं जो 'सरस्वती' के सम्पादकीयों के रूप में लिखे गये हैं। अतएव उन्होंने लिखा है—"अभी तो हिन्दी के समीक्षा-क्षेत्र में उर्दू मिश्रित अथवा संस्कृतमिश्रित भाषाभेद को ही शैली समझ लेने की भ्रांत धारणा फैली हुई है; परन्तु यदि साहित्यिक शैलियों का कुछ गंभीर अध्ययन आरम्भ होगा तो द्विवेदीजी की शैली के व्यक्तित्व और उसके स्थायित्व के प्रमाण मिलेंगे। द्विवेदीजी की शैली का व्यक्तित्व यही है कि वह ह्रस्व, अनलंकृत और रूक्ष है। उनकी भाषा में कोई संगीत नहीं, केवल उच्चारण का ओज है जो भाषण-कला से उधार लिया गया है। विषय का स्पष्टीकरण करने के आशय से द्विवेदीजी जो पुनरुक्तियाँ करते हैं, वे कभी-कभी खाली चली जाती हैं—असर नहीं करतीं; परन्तु वे फिर आती हैं और असर करती हैं। लघुता उनकी विभूति है। वाक्य पर वाक्य आते और विचारों को पुष्ट करते हैं। जैसे इस प्रदेश की छोटी 'लखौरी' ईंटें दृढ़ता में नामी हैं, वैसे ही द्विवेदी जी के छोटे-छोटे वाक्य भी!" "द्विवेदी जी की साहित्य-शैली का भविष्य अबतक यथोचित प्रकाश में नहीं आया है। हिन्दी-प्रदेश की जनता ने उसे अपने समाचारपत्रों की भाषा में अच्छी मात्रा में अपना लिया है और हिन्दी के प्लेटफार्म पर भी उसकी तूती बोलने लगी है। ....अभी द्विवेदी जी की भाषा-शैली को गुंफित विचार-राशि के वहन करने का यथेष्ट अवसर नहीं प्राप्त हुआ है—अभी विचारों का तार हिन्दी में बँधा नहीं है। ....जब कभी वह अवसर

आवेगा, (हम समझते हैं कि शीघ्र ही आवेगा), तब द्विवेदी जी की भाषा का चमत्कार देखने को मिलेगा। वह सरल रूक्ष अभिव्यक्ति, जिसके गर्भ से गहन विचारों की परंपरा फूट निकलेगी, हिन्दी के क्षेत्र में एक दर्शनीय वस्तु होगी। व्यावहारिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक विवेचन और देशव्यापी विचार-विनिमय जब खड़ी बोली का आधार लेकर चलने लगेंगे, तब द्विवेदीजी की भाषा को भलीभाँति फूलने-फलने का मौका मिलेगा। ....किन्तु देश की जो व्यापक सामाजिक भाषा हमारे सामूहिक जीवन में सर्वत्र अभिज्ञता की लहर उत्पन्न करेगी, जो हमारे व्यवस्थापकों, व्यापारियों और वोट देनेवालों की, जो हमारी नित्य प्रति की दुनियादारी की भाषा होगी, वह पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी की भाषा का ही विकसित रूप होगी, इसमें संदेह करने की ज्यादा जगह नहीं है। (पृ० ८-९)।

शुक्लजी भी उनके लेखों में ही उनकी शैली का व्यक्तित्व पाते हैं—"कहने की आवश्यकता नहीं कि द्विवेदीजी के लेख या निबंध विचारात्मक श्रेणी में आएँगे। पर विचारों की वह गूढ़—गुंफित परंपरा उनमें नहीं मिलती जिससे पाठक की बुद्धि उत्तेजित होकर किसी नई विचारपद्धति पर दौड़ पड़े। ....द्विवेदीजी के लेखों को पढ़ने से ऐसा जान पड़ता है कि लेखक बहुत मोटी अक्ल के पाठकों के लिए लिख रहा है। एक-एक सीधी बात कुछ हेरफेर—कहीं-कहीं केवल शब्दों के ही—के साथ पाँच छः तरह से पाँच छः वाक्यों में कही हुई मिलती है। उनकी यही प्रवृत्ति उनकी गद्य शैली निर्धारित करती है। उनके लेखों में छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग; अधिक मिलता है। नपे-तुले वाक्य को कई बार शब्दों के कुछ हेर-

फेर के साथ कहने का ढंग वही है जो वाद या संवाद में बहुत शांत होकर मुस्काने-बुझाने के का में लाया जाता है। उनकी यह व्यास-शैली विपक्षी को कायल करने के प्रयत्न में बड़े काम की है।" (पृ० ५६३)।

ऐसा प्रतीत होता है कि बाबू श्यामसुन्दर दास प्रभृति ने शुक्लजी की इन्हीं पंक्तियों को लक्ष्य करके "द्विवेदी अभिनन्दन ग्रंथ" की प्रस्तावना के उस संदर्भ में द्विवेदीजी की शैली का विवेचन करते हुए उपर्युक्त रचनात्मक उद्गार व्यक्त किये हैं। हम देखते हैं कि इसका अपना मूल्य है। अच्छा हो कि पहले हम यह निश्चय कर लें कि शैली क्या है? सारटर रेसरटस के अनुसार लेखक की शैली उसके विचारों का परिधान है; पर कार्लाइल ने इस परिभाषा की आलोचना करते हुए यह लिखा कि लेखक की शैली को उसके विचारों से पृथक् नहीं किया जा सकता—वह उसी का अंग है। अपने परिधान को जब एक लेखक अपनी सुरुचि के अनुकूल बदल सकता है तब तो वह केवल बाह्य उपकरण है—अभिन्न अंग नहीं। इसलिए शैली लेखक की त्वचा हो सकती है न कि पोशाक। पेटर ने इस व्याख्या के दोषों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित करते हुए यह कहा कि किसी व्यक्ति की त्वचा से उसके विचारों की जानकारी नहीं प्राप्त हो सकती। 'विषरस भरा कनकघट-जैसे' पाषंडियों का साहित्य-संसार में भी अभाव नहीं। वास्तव में शैली लेखक का बाह्य रूप नहीं प्रत्युत् उसकी आभ्यंतरिक प्रतिकृति है। अर्थात् शैली लेखक का व्यक्तित्व है क्योंकि दोनों में अभिन्न संबंध है। बफून ने भी शैली की यही परिभाषा दी है जिसका कि वाल्ट ह्विटमैन ने समर्थन किया है और जो अबतक हमारे साहित्यिकों को मान्य है। फलतः

किसी लेखक की शैली में हम उसके व्यक्तित्व को ही ढूँढ़ते हैं न कि उसके आगंतुक उपादानों को।

बाबू श्यामसुन्दर दास ने शैली के महत्त्व पर विचार प्रकट करते हुए अपने 'साहित्यालोचन' शीर्षक साहित्य-शास्त्र में शैली को रचना-चमत्कार का पर्याय माना है। उसी में उन्होंने लेखकों की निम्नांकित बातों से उनकी शैली का सम्बन्ध निर्धारित किया है—"कवि या लेखक की शब्द-योजना, वाक्यांशों का प्रयोग, वाक्यों की बनावट और उनकी ध्वनि आदि का नाम ही शैली है।" आगे चलकर आपने इसका विशद विश्लेषण किया है जिसका सारांश यह है कि भाषा का मूल आधार शब्द है क्योंकि किसी लेखक की प्रारम्भिक कृतियों में शब्दों का बाहुल्य और भावों तथा विचारों की न्यूनता मिलती है अर्थात् उसकी शैली में पहले शब्दाडंबर तथा वाग्जाल पाये जाते हैं किन्तु अनुभव बढ़ने पर लेखन-शक्ति की वृद्धि होती है यानी उसकी शैली में तब शब्दों की कमी और भावों की बढ़ोतरी पायी जाती है। मध्यावस्था में उसकी कृतियों में प्रायः शब्दों और भावों आदि में समानता आ जाती है तथा प्रौढ़ावस्था में उसमें भावों की अधिकता तथा शब्दों की न्यूनता स्पष्ट दीख पड़ती है। इसलिए आप यह निर्णय करते हैं कि शैली में शब्द-भांडार का महत्त्वपूर्ण स्थान है लेकिन रुचि-वैचित्र्य के कारण लोगों के विचार और भाव विभिन्न प्रकार के होते हैं, अतएव शब्दों के प्रयोग के ढंग पर ही किसी लेखक की शैली का यथार्थ निरूपण किया जा सकता है। तदनन्तर आप वाक्य-विन्यास का प्रश्न उपस्थित करते हैं। इनके अनुसार सबसे अच्छा वाक्य वाक्योच्चय है क्योंकि इसमें वाक्य का प्रधान अंश सबके अंत में आता है अतएव इसमें भी शब्दों

के संघटन पर लेखक को अधिक ध्यान देना पड़ता है। समी-कृत वाक्यों का व्यवहार करके वह अपनी शैली को आकर्षक एवं प्रभावोत्पादक बना सकता है क्योंकि ऐसे वाक्यों में एक ही विचार या भाव की आवृत्ति बार-बार होती है। आवृत्ति का विधान समानता और विभिन्नता पर आश्रित है जिससे पाठकों के हृदय में विस्मय का प्रादुर्भाव होता है और इसके फलस्वरूप उनपर वाक्यों के तात्पर्य का प्रभाव पड़ता है। यह प्रभाव 'अवधारणा के संस्थान' के कारण प्रस्तुत होता है। वाक्यों के बाद पद-विन्यास का स्थान है। एक परिच्छेद से दूसरे परि-च्छेद की ओर बढ़ने के समय वाक्यों से सम्बन्ध और संक्रमण बना रहना उचित है अर्थात् वाक्यों में विचार या भावों का क्रमशः विकास या परिवर्तन परिलक्षित होना आवश्यक है। साथ ही, बिना अवरोध या परिश्रम के एक वाक्य से दूसरे वाक्य पर सरकना चाहिए। आपके मतानुसार व्यंग्यार्थ-प्रधान वाक्य ही सर्वोत्तम वाक्य है, फिर भी लेखकों को ओज और प्रसाद की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। अन्त में आपने कहा है, "विचारों की गूढ़ता, विषय-प्रतिपादन की गंभीरता, मुहावरों की प्रचुरता, आनुषंगिक प्रयोगों की योजना और वाक्यों की जटिलता किसी भाषा को कठिन तथा इसके विपरीत गुण की स्थिति ही उसे सरल बनाती है। कहने का अभि-प्राय यह है कि आप शैली का अस्तित्व लेखक के व्यक्तित्व से भिन्न मानते हैं और उसका सम्बन्ध उसकी रचनाविषयक बाह्य मान्यताओं से स्थिर करते हैं। लेकिन जैसा कि पूर्व ही दिखलाया जा चुका है, उसके अनुसार शैली लेखक का कौशल नहीं प्रत्युत् उसके जीवनव्यापी अनुभव का अंग है—संस्कार का फल है। अतः शैली के समझने के पूर्व व्यक्तित्व का

समझ लेना जरूरी है।

व्यक्तित्व बड़ा ही अस्पष्ट एवं उलझनों से भरा हुआ शब्द है। व्यक्तित्व न तो किसी व्यक्ति की बाह्य आकृति का द्योतक है और न वह उसकी मात्र सुरुचि का ही परिचायक है। इसमें न तो उसका वैचित्र्य ही सन्निहित है और न उसका निजत्व ही समाविष्ट। वास्तव में किसी व्यक्ति के समष्टिगत आंतरिक आकर्षण एवं पूर्ण प्रभावोत्कर्ष को ही हम उसका व्यक्तित्व कह सकते हैं। परिणामतः किसी एक व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माण एक ही दिशा की ओर होना अनिवार्य नहीं है। मनोवैज्ञानिकों ने एक, दो या अनेक व्यक्तित्वों से मंडित कितने ही व्यक्तियों को प्रकाश में लाने का उद्योग किया है। प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तियों का व्यक्तित्व बड़ा ही व्याघातात्मक होता है। इसलिए जब शैली के विवेचन के पूर्व व्यक्तित्व का स्पष्टीकरण आवश्यक है तब किसी के व्यक्तित्व के किन-किन गुणों को ग्रहण करना उचित है, जिनके आधार पर उसकी शैली का परिचय दिया जा सके, ये सारी बातें विवादास्पद हैं। स्वयं उमेशचन्द्र मिश्र ने "द्विवेदी काव्य-माला" के 'निवेदन' में इस ओर संकेत किया है—"मानव अपने में 'बहुत कुछ' या 'सब कुछ' होता है। परिस्थितियाँ उसकी विशेषताओं को प्रकाश में लाती रहती हैं। जिस समय जिस अन्तर्निहित शक्ति के विकास के अनुरूप साधन प्रस्तुत हो गये, उसी रूप में मानव उस समय प्रकट हो जाता है। मनोविज्ञानियों के सिद्धांतानुसार एक ही व्यक्ति विभिन्न समयों में कवि, इञ्जिनियर, डाक्टर, धर्मात्मा और विवेचक इत्यादि सभी कुछ हो सकता है। इसी प्रकार एक समय में भी उसके अनेक रूप हो जाते हैं। पहले प्रकार के रूप-वैभिन्य का आधार विभिन्न

शक्तियों का समयापेक्षी विकास होता है, और दूसरे प्रकार का आधार विभिन्न व्यक्तियों के 'रूपग्रहण' का विभिन्न प्रकार।" (पृ० ६)। आगे चलकर आप किसी साहित्यिक के व्यक्तित्व के उस रूप की भी उपेक्षा नहीं करना चाहते, जो विकसित होकर सामने नहीं आ सका तथा अल्प-विकसित या अर्द्ध-विकसित ही रह गया क्योंकि आपके विचारानुसार ऐसा करने से उस व्यक्ति का पूरा परिचय नहीं दिया जा सकेगा। अनुकूल वातावरण और कुछेक साधनों के अभाव के चलते यदि कोई पुरुष किसी विशेष रूप में पूर्णतया प्रकट नहीं हो सका, मगर उसमें किसी अन्य रूप में व्यक्त होने की प्रयाप्त क्षमता थी, तो समीक्षक का कर्तव्य है कि वह उसके उन स्थिर सामर्थ्यों का भी विश्लेषण करे। इसी सिद्धांत के आधार पर आप द्विवेदीजी को एक 'कवि' सिद्ध करना चाहते थे लेकिन ऊपर देखा जा चुका है कि उसमें आप 'अपने ही शब्दों में' असफल रहे। देखिये—"पर उन्होंने कवि की अमरता को ठुकरा दिया। कविकर्म को छोड़कर उन्होंने कविता के नवीन आदर्शों का विरोध करने वालों से निपट लेने की ठान ली। यहीं उनके कवि का उपराम होता है और उनका दर्शन हमें उग्र समीक्षक, व्यंग्य-प्रहारक और सफल सेनानी के रूप में होता है। अपनी काव्य-भावनाओं को उन्होंने सदा के लिए सुलाकर औरों का मार्ग प्रशस्त कर दिया; और उन परिस्थितियों का निर्माण कर दिया जिनमें हमारी आधुनिक काव्यभावना पूर्ण रूप से व्यक्त हो सकी।" (पृ० १४, वही)।

बहुधा देखा जाता है कि यदि कोई व्यक्ति द्वेष, घृणा, क्रोध या स्पर्द्धादि के वशीभूत होकर किसी वस्तु की सृष्टि करता है तो उसकी उस कृति में सहृदयतानिष्ठा—नहीं पाय

जाती। जहाँ हृदय नहीं है वहाँ प्राणस्पंदन का भी अभाव है और जिस रचना में जीवन ही नहीं है वह अमर कैसे हो सकती है? उमेशचन्द्र मिश्र के कथनानुसार यदि द्विवेदीजी कवि नहीं हैं, तो वे आलोचक भी नहीं ठहराये जा सकते, क्योंकि उनकी प्रहार-नीति के कारण उनकी समीक्षाएँ स्थायी नहीं हो सकतीं, क्योंकि उनमें लेखक का वही व्यक्तित्व प्रस्फुटित हुआ है, जो नितांत हृदयहीन तथा प्रतिक्रियात्मक है। दूसरी ओर जब हमारा ध्यान मौंटेन, कैरोल तथा लोनार्डो आदि की कलाकृतियों की ओर जाता है तब हम इन प्रतिभासम्पन्न कलाकारों के बहुमुख व्यक्तित्व को देखकर विस्मयविमुग्ध रह जाते हैं! मौंटेन नीतिशास्त्री एवं प्रथम व्यक्तिगत निबंधकार था। कैरोल एक संभ्रांत पादरी तथा साथ ही कुशल विलक्षण आख्यायिका-लेखक भी था। लोनार्डो एक चित्रकार और साथ ही साथ एक सफल स्थापत्य-कार और लेखक भी था। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन व्यक्तियों का व्यक्तित्व अनेक दिशाओं में प्रस्फुटित हुआ किन्तु फिर भी उनका एक-एक ही रूप प्रमुख था और उसी एक-एक रूप के कारण आज वे विश्व भर में इतने विख्यात हैं। इन सबों की प्रतिभा का विकास आक्रमणकारी प्रवृत्तियों की तृप्ति के लिए नहीं हुआ था, इसीसे इनकी कला अमर है। अनेक व्यक्ति-व वाले व्यक्तियों की एक विशेषता हुआ करती है। वे जब एक व्यक्तित्व वाला जीवन व्यतीत करते हैं (जैसे, एक चित्रकार का) तब उनका दूसरा व्यक्तित्व वाला जीवन (जैसे, एक यंत्रकार का) विस्मृति के गर्भ में पड़ा रहता है। फलतः हम देखते हैं कि ऐसे व्यक्तियों के विभिन्न व्यक्तित्व से निर्मित उनकी विविध कृतियों में कोई परस्पर

सादृश्य, सह-संबंध अथवा प्रभाव-साम्य नहीं पाया जाता है। यही एकमात्र कारण है जिससे कि हम इन्हें उसी एक क्षेत्र में, जिसके प्रति इनकी प्रधान रुचि है, प्रसिद्धि प्राप्त करते हुए देखते हैं। यों तो एक ही मनुष्य अपने जीवनकाल में अनेक कार्यों को सम्पादित करता है लेकिन उसे सभी कामों में समान रूप से सफलता नहीं मिलती और न वह एक कर्म की गुरुता के भार के नीचे अज्ञात भाव से दूसरे कार्यों के महत्त्व को भूल बैठता है। इसलिए सव प्रथम यह निर्णय कर लेना कि द्विवेदीजी का हिन्दी-साहित्य में कौन-सा व्यक्तित्व मुख्य एवं अनिवार्य है, हमारे लिए नितांत आवश्यक है।

"द्विवेदी-मीमांसा" में प्रेमनारायण टंडन द्वारा उठाया गया यह प्रश्न कि क्या द्विवेदीजी इस नियम के अपवाद हैं कि 'प्रत्येक लेखक की एक शैली रहती है', सम्प्रति विचारणीय है। "द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रंथ" की भूमिका में बाबू श्यामसुन्दर दास तथा श्री राय कृष्ण दास न द्विवेदीजी के सम्पादक वाले व्यक्तित्व को ही प्रधान माना है क्योंकि उनके विचारानुसार इसीसे हिन्दी-साहित्य गौरवान्वित हुआ है। उनके सम्पादकीय कर्तव्यपालन में उन्होंने एक 'निस्सम्पन्न कर्मठ ब्राह्मण' की झलक देखी है, इसलिए इसी को आप द्विवेदीजी का सच्चा व्यक्तित्व मानते हैं और उनकी शैली में उनके इसी रूप को ढूँढ़कर उसका विशद परिचय यह कहकर देने का उपक्रम करते हैं कि वह 'ह्रस्व, अनलंकृत और रुक्ष है'। "साहित्यालोचन" में बाबू साहब ने रचना-चमत्कार को ही शैली का दूसरा नाम कहा है। लेकिन "द्विवेदी अभिनन्द ग्रंथ" की प्रस्तावना में उन्होंने जहाँ पर द्विवेदी जी की शैली के व्यक्तित्व का विवेचन किया है, वहाँ पर आपने यह

भी लिखा है" अधिक से अधिक ईप्सित प्रभाव उत्पन्न करना ही यदि भाषा-शैली की मुख्य सफलता मान ली जाय तो शब्दों का शुद्ध, सामयिक सार्थक और सुन्दर प्रयोग विशेष महत्त्व रखने लगे। शब्दों की शुद्धि व्याकरण का विषय है, व्याकरण की व्यवस्था साहित्य की पहली सीढ़ी है। सामयिक प्रयोग से हमारा आशय प्रसंगानुसार उस शब्द-चयन-चातुरी से है जो काव्य के उद्यान को प्रकृति की सुषमा प्रदान करती है। उसमें कहीं अस्वाभाविकता बोध नहीं होती। सार्थक पदविन्यास केवल निघंटु का विषय नहीं है; उसमें हमारी कल्पना-शक्ति भी काम करती है जो शब्दों की प्रतिमा बनाकर हमारे सामने उपस्थित कर देती है। पदों का सुन्दर प्रयोग वह है जो संगीत (उच्चारण), व्याकरण, कोष आदि सब से अनुमोदित हो और सब की सहायता से संघटित हो; जिसके ध्वनन मात्र से अनुरूप चित्रात्मकता प्रकट हो और जो वाक्यविन्यास का प्रकृतिवत् अभिन्न अंग बनकर कहीं निवास करने लगे।" अधिक कहने की आवश्यकता नहीं कि बाबू साहब ने यहाँ पर शैली की जो परिभाषा दी है वह संशोधित, परिष्कृत एवं प्रौढ़ है, अतएव मान्य है। यहीं पर आपने उनकी शैली की तुलना 'लखौरी ईंटों' से की है। पर जहाँ तक द्विवेदीजी की शैली का संबंध उनकी सम्पादकीय टिप्पणियों से है श्रीयुत ज्योतिःप्रसादजी मिश्र की दृष्टि में वह तो केवल एक किरानी की व्यवस्था से ही अधिक महत्त्व रखता है। एक ओर यदि पं० नन्ददुलारे वाजपेयी उनके ब्राह्मणरूप में क्षात्र धर्म के अनुकरण का आवेश पाते हैं तो दूसरी ओर बा० कामताप्रसाद गुरु ने उन्हें व्याकरण के शुद्ध नियमों की अवहेलना करते हुए देखा है तथा श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी ने उनकी प्रधान साहित्यिक

प्रवृत्ति को आलोचनाप्रधान स्वीकार किया है। अतएव 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना' के अनुसार उनके व्यक्तित्व का ठीक-ठीक पता लगाना दुष्कर कर्म है और वह भी उस अवस्था में जब कि बाबू श्यामसुन्दर दास रुचि-वैचित्र्य के सिद्धांत में विश्वास करते हैं।

मिश्रबन्धुओं ने अपने संक्षिप्त हिन्दी-साहित्य के इतिहास में 'द्विवेदी-युग' की उपेक्षा कर उसके स्थान पर 'व्यंग्ययुग' नामक एक नया काल-विभाग प्रस्तुत किया है क्योंकि उस काल के सभी लेखकों जैसे, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुंद गुप्त, पद्मसिंह शर्मा तथा स्वयं द्विवेदीजी के गद्य में आपने व्यंग्य की ही प्रधानता पायी है। अब यह देखना जरूरी है कि क्या द्विवेदीजी की शैली सचमुच व्यंग्यात्मक है? उनकी प्रसिद्ध पुस्तक "समालोचना-समुच्चय" के प्रथम निबन्ध 'गोपियों की भगवद्भक्ति' का जब हम अध्ययन करते हैं तब हम उसे एक व्यंग्यप्रधान आलोचनापरक व्यक्तिगत लेख के रूप में लिखित पाते हैं। इस निबंध पर मिश्रजी के व्यक्तिगत निबंधों के विधान का पूरा प्रभाव पड़ा है। "आप" इत्यादि लेखों में जिस प्रकार वे आत्मीयता का मनोहर वातावरण वार्त्तालाप के तत्त्व में हास्य का पुट देकर उपस्थित करते हैं उसी प्रकार इसमें द्विवेदीजी ने भी वैसा ही वायुमंडल तैयार किया है। गुप्तजी ने जिस प्रकार का चमत्कार "शिव शंभु के चिट्ठे" को लिखकर दिखलाया है द्विवेदीजी ने भी उसी प्रकार के कौशल को अपनाकर प्रस्तुत निबंध की रचना की है; किन्तु दोनों की रीति-नीति में जरा अन्तर है। एक की मनोवृत्ति यदि आक्रमणकारी है; तो दूसरे की प्रवृत्ति रक्षणात्मक है। अस्तु; द्विवेदीजी ने इस लेख में श्रीकृष्ण पर

लगाये गये उन दोषों का बड़े ही चातुर्य के साथ प्रक्षालन किया है जिनकी ओर पंडितवर्ग जनसाधारण का ध्यान निरंतर आकर्षित करते आये हैं तथा जिनके उत्तर में रवीन्द्रनाथ को एक बार 'वैष्णव कविता' लिखनी पड़ी थी। यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि द्विवेदीजी ने उपर्युक्त निबंध लिखकर रीतिकालीन मालिन्य को भक्तिकालीन खास वातावरण द्वारा चमत्कृत करने का स्तुत्य प्रयत्न किया है। कथारस की उद्भावना करके उन्होंने तो इसमें चार चाँद लगा ही दिये हैं किन्तु साथ ही प्राकृतिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत कर उन्होंने ठाकुर जगमोहन सिंह 'विकसित' के 'श्यामास्वप्न' की अनुपम शैली का जो पुनः दिव्य आभास दिया है वह इन्हीं के योग्य है। भाषा के क्षेत्र में पं० पद्म सिंह शर्मा के विरोधी होते हुए भी आप "बिहारी सतसई के संजीवन भाष्य" की भूमिका वाले अंश से होड़ लगाते हुए-से इस लेख में प्रतीत होते हैं। शर्मा जी की भाषा में उर्दू शब्दों की छटा लच्छेदार ताँता बाँधती हुई-सी दीख पड़ती है, जिसका कि चटखारा वे पाठकों को बरबस चखाने के तुल-से जाते हैं लेकिन द्विवेदीजी की भाषा में वे इस मात्रा तक नहीं पहुँचते! इस निबंध में उर्दू के शब्दों का प्रयोग आवश्यकतानुसार ही हुआ है किन्तु अनुप्रासों की शोभा दिखलाने के लिए आप जैसे व्यग्र हो उठे हैं। पहले ही संदर्भ में दृष्टि डालिये—

"शरत्काल है। धरातल पर धूल का नाम नहीं। मार्ग रजोरहित है। नदियों का औद्धत्य जाता रहा है; वे कृश हो गयी हैं। सरोवर और सरिताएँ निर्मल जल से परिपूर्ण हैं। जलाशयों में कमल खिल रहे हैं। भूमिभाग काशांसुकों

से शोभित हैं। वनोपवन हरे-हरे लोल पल्लवों से आच्छादित हैं। आकाश स्वच्छ है; कहीं बादल का लेश नहीं। प्रकृति को इस प्रकार प्रफुल्लवदना देखकर एक दफे, रात के समय श्रीकृष्ण को एक दिल्लगी सूझी।" निःसन्देह यहाँ पर हम द्विवेदीजी की सानुप्रास सप्रयास शैली की झलक देखते हैं और उन्हें तरल व्यंजनों का अधिक से अधिक उपयोग करते हुए पाते हैं। यहीं पर हम उनके उर्दू शब्दों के अनिवार्य प्रयोग की भी प्रशंसा करते हैं। उर्दू के शब्दों का उन्होंने आगे चलकर धड़ल्ले के साथ व्यवहार किया है तथा एक मिश्रित शैली को जन्म दिया है, जैसे, "बात यहीं तक रहती तो गनीमत थी।" 'धर्मशास्त्रज्ञ बनकर आपने यही फरमाया है न........आप यह भी फरमा दीजिये।' 'इस लीला की असलियत क्या थी।' 'आपके मुकाबले में...........कोई चीज नहीं।" व्यंग्य के साथ-साथ कहीं-कहीं आप अनुप्रास के लोभ से भी उर्दू के शब्दों का प्रयोग करते हैं। जहाँ कहीं आपको विशेषणों का उपयोग करना पड़ता है वहाँ कभी-कभी आप उर्दू की भी सहायता लेते हैं। देखिये—'जंगल बेहद घना है।' 'क्या कोई गज़ब की बात हो गयी?' 'बेढब वेदांत बूका है।' आदि। शैली का निर्धारण थोड़े-बहुत विशेषणों के व्यवहार पर भी आश्रित है, अतएव हम उनके ऐसे-ऐसे स्पष्ट प्रयोगों की उपेक्षा नहीं कर सकते। फिर भी इसकी तुलना राजा राधिकारमण सिंह के 'राम-रहीम' की शैली से नहीं की जा सकती है क्योंकि वह कृत्रिम तथा क्लिष्ट है जब कि यह स्वाभाविक एवं सरल है। ठेठ शब्दों का भी आप बहुसंख्या में प्रयोग करते हैं। उदाहरणतः—'जमीन कुरेदती

हुई ठगी-सी खड़ी रहीं।' 'भगवान के दरबार या द्वार से उसी तरह दुरदुराया गया है।' 'पंडिताई न छाँटिए', 'सरसरी ही दृष्टि' 'परन्तु, सरकार, इन ऋषियों से बड़े' 'आप हमारे सब कुछ हो।' यहाँ भी हम उनकी यमकप्रियता की झाँकी लेते हैं और इस प्रकार उनकी शैली को सप्रयास शैली मानने को बाध्य होते हैं। केवल तत्सम शब्दों का ही आप उपयोग नहीं करते वरन् अप्रयुक्त शब्दों ❀ के भी प्रयोग इस निबंध में जहाँ-तहाँ पाये जाते हैं—'शिशुओं को स्तन्यपान कराना' 'अत्युष्ण श्वासोच्छ्वासों की मार से उनके बिम्बाधर कुम्हला गये।' 'यदि आप तनुभृज्जनों की आत्मा हैं।' 'अपने विरुद को सँभालिए।' 'अतएव, अब यथायोग्यं तथा कुरु।' 'सर्वथैव असम्भव है।' प्रभृति। इतना होने पर भी हम कहीं भी उनकी शैली में वागाडम्बर का बल × नहीं पाते। आपके वाक्य छोटे-छोटे, संतुलित तथा प्रसादगुण से परिपूर्ण हैं। वार्तालाप की शैली का आपने आद्योपांत व्यवहार किया है। जैसे—'स्वागत! स्वागत! खूब आईं। कहिये, क्या हुआ है? कुशल तो है? ब्रज पर कोई विपत्ति तो नहीं आई? किसलिए रात को यहाँ आगमन हुआ?'

"जरा इन प्रश्नों को तो देखिए। स्वागत-सत्कार के ढंग पर तो विचार कीजिए। आपही ने तो बुलाया और आप ही आने का कारण पूछ रहे हैं! यह दिल्लगी नहीं तो क्या है?" 'परन्तु वह दूसरा किस्सा है। इससे उसे जाने दीजिए।' 'वह मार्ग बहुत कठिन है। पर प्रेम और भक्ति का मार्ग

❀ obsolete

× precocity

सुलभ और सुखसाध्य है ।' यहाँ हम उनके निबंधों में भी नय-नये प्रसंगों की वैसी ही मधुर उद्भावना पाते हैं जैसी कि पूर्ण सिंह के प्रिय निबंधों की विशेषता है। वास्तव में द्विवेदी जी की यह रचना भावात्मक है किन्तु कहीं-कहीं पर इसमें विचारों को भी विश्रामार्थ प्रवेश करने की अनुमति इन्होंने दे दी है। अर्थात् इनकी रागात्मक शैली पद्यात्मक अभिव्यक्ति के लिए व्यग्र एवं कटिबद्ध है। ध्यानपूर्वक देखिये—"व्यभिचारी शब्द के वि + अभि + चर को ध्यान में रखकर उसका धात्वर्थ न करें; लोक में उसका जो अर्थ समझा जाता है वही करें।" व्यंग्य * का सीधा सम्बन्ध यद्यपि बुद्धि से स्थिर किया गया है; पर द्विवेदी जी के इस निबंध में वह हृदय की ओर अग्रसर होता हुआ दीख पड़ता है। उदाहरण के लिए-'उन्हीं उद्धव को जिन्होंने श्रीमद्‌भागवत के ग्यारहवें स्कंध में बेहद वेदांत बूका है और महाभारत में राजनीति पर बड़े-बड़े लेक्चर झाड़े हैं। आप अपनी ज्ञान-गरिमा की गठरी बाँधकर ब्रज पहुँचे और लगे गोपियों को ज्ञानोपदेश करने। परन्तु वहाँ गोपियों ने उन्हें इतनी कड़ी फटकार बताई कि उनका ज्ञान-सागर बिल्कुल ही सूख गया। गोपियों की प्रेम की आँधी में उनका ज्ञानयोग यहाँ तक उड़ गया कि वे उल्टे उन्हीं 'व्यभि-चारदुष्ट' वनचरी नारियों के चेले हो गये।' आत्मीयता लाने के लिए आप पाठकों से निकट सम्पर्क स्थापित करते हैं एवं कहीं-कहीं व्यक्तिगत कटाक्षचर्चा को भी प्रोत्साहन देते हैं, जैसे, 'इसी से हम कहते हैं कि यह सारी दिल्लगी थी। दिल्लगी पर दिल्लगी।' 'जहाँ तक हम जानते हैं, ऐसा तो कोई नियम

---

* Wit

नहीं।' 'आप देखेंगे कि गोपियों ने अपने इष्ट देव को जहाँ प्रिय, प्रियतम, अङ्ग-सखा इत्यादि शब्दों से सम्बोधित किया है वहाँ उन्हें वे बराबर ईश्वर, परमेश्वर और परमात्मा ही कहती आई हैं।' 'परन्तु यदि आप यही मान लें कि गोपियों का व्यवहार लोकदृष्टि से निन्द्य था तो परलोक-दृष्टि से तो वह प्रशंसनीय ही माना जायगा।' 'हमने अपने इस जन्म में न तो कभी साधु-समागम किया, न किसी सुकृत ही का सम्पादन किया और न किसी तरह का और ही कोई सत्कर्म किया। इस कारण उद्धव के सदृश कामना करने के हम अधिकारी नहीं। अतएव हमारी प्रर्थना इतनी ही है कि यदि पूर्व जन्मों में हमने कभी कोई सत्कार्य किया हो तो भगवान् हमें ब्रजमण्डल के करीर का काँटा ही बना देने की कृपा करें।" अतः हम उनकी इस शैली में (तु० गुलों से खार बेहतर हैं जो दामन थाम लेते हैं।) प्रयास का आभास पाते हैं क्योंकि आप अपनी शैली को उत्कृष्ट बनाने के लिए वाक्योच्चय तथा समीकृत वाक्यों का ही सर्वत्र उपयोग करते हैं, जिनमें स्थल-स्थल पर सार-विपर्यय ※ का सहारा लिया जाता है, किन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि उनकी इस व्यास-समास-समन्वित शैली में कौशलों के छिपाने की कला है। कहा जाता है कि शेक्सपीयर की वही शैली सर्वोत्कृष्ट है जिसमें उसकी कोई शैली विद्यमान नहीं। हम देखते हैं कि इस दृष्टि से द्विवेदीजी की व्यंग्यात्मक शैली उनकी सर्वोत्कृष्ट शैली नहीं है क्योंकि यह अनायास नहीं, यद्यपि उनके कोई-कोई प्रशंसक उनकी इसी शैली में उनके आत्मनिवेदन, स्वानुभूति-प्रकाशन एवं व्यक्तित्व-निदर्शन की झलक पाते हैं!

※ antithesis

द्विवेदीजी की व्यंग्यात्मक शैली का दूसरा पक्ष बड़ा ही उग्र एवं आक्रमणकारी है। "वाग्विलास" के 'अनुमोदन का अंत' एवं 'अनस्थिरता' शीर्षक निबंधों में उसकी कटुता और तीक्ष्णता का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। बाबू श्यामसुन्दर दास एवं श्रीमान् 'गुप्ता' साहब पर जब वे व्यंग्यवाण की बौछार करते हैं तब ये सज्जन परोक्ष में अवश्य ही तिलमिलाते हुए-से दृष्टि-गोचर होते हैं। * देखिये—सच तो यह है कि यह भी उनकी यथार्थ शैली नहीं है कारण कि इनमें हमें उनके वास्तविक व्यक्तित्व का दर्शन नहीं होता। स्वयं प्रेमचन्द के अनुसार "व्यक्तित्व बनाया जाता है; स्वयं नहीं बनता। लोकाकांक्षा ही व्यक्तित्व की महिमा प्रतिष्ठापित करती है। हमारे आचार्य द्विवेदीजी इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। अपनी निःस्वार्थ साहित्यिक साधना से इन्होंने जिस वातावरण की सृष्टि की उसके भीतर से लोकाकांक्षा का प्रादुर्भाव हुआ और यही आज के हमारे इतने बड़े आह्लाद का कारण बनी।"

हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि उनकी इस शैली का दूसरा पक्ष पहले पक्ष की अपेक्षा प्रौढ़ नहीं, इसीलिए उसमें व्यंजना का सर्वथा अभाव है तथा लक्षणा का अत्यधिक आग्रह जो कि इसकी प्रारम्भिकता का ही सूचक है। तो क्या उनके व्यक्तित्व का सच्चा अभिव्यंजन उनकी आलोचनात्मक शैली में

---

* नायिका का नाम गुप्ता सुना गया था; पर अब गुप्ता नायक भी पैदा हो गये हैं। गुप्ता शब्द संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, आदि सब भाषाओं के व्याकरण से सही है; पर अनस्थिरता नहीं। क्यों? जुबाँदानों का हुक्म! और हुक्म भी कैसा? 'स्थिर' में 'अन' लग जाय; पर 'स्थिरता' में न लगने पावे।" (वा० वि०)।

१९९-२००)। इस उद्धरण में हम द्विवेदीजी की शैली में कहीं प्रयास नहीं पाते। ऐसा प्रतीत होता है मानो उनके हृदय से अनुप्राणित होकर उनके निजी विचारों ने निष्कपट भाव से भाषा का यह परिधान पहन लिया है। कहीं भी उनके विचार और व्यक्तित्व में दुराव-छिपाव नहीं दीख पड़ता। इसीसे इस निबंध की भाषा-शैली में उनकी महावीरता का साक्षात् दर्शन होता है। 'विचार-स्वातंत्र्य' की पुनरुक्ति लेखक की विचारों के प्रति एकनिष्ठ आस्था की सूचक है, न कि किसी कौशल या दोष का चिह्न! इस प्रकार हम देखते हैं कि यही शैली उनकी अपनी शैली है क्योंकि इसमें न तो उन्हें अलंकारों के लिए मोह है, और न तो उक्ति-चमत्कारों के लिए आकर्षण। लेकिन आगे बढ़ने पर आपकी आलोचनात्मक शैली पुनः व्यंग्य में परिणत होने लगी है और वहीं आपका व्यक्तित्व तिरोहित हो जाता है। जैसे, "कहने का मतलब सिर्फ इतना ही है कि जो बात लेखकों की समझ में जैसी जान पड़ी है उसे उन्होंने निर्भयतापूर्वक कह डाला है। समालोचक में इस गुण का होना बहुत ही अभिनन्दनीय है। लेखकों ने तुलसीदास की रामायण तथा इतर ग्रंथों में ये और अन्य दोष जो दिखलाये हैं उनमें से कितने ही दोषों को काव्यदृष्टि से हम दोष नहीं समझते। उनके सम्बन्ध में हम लेखकों से सहमत नहीं। (पृ० २०३)।

"जितने शब्द हैं, चाहे वे जिस भाषा के हों, सबके अर्थों की सीमा निर्दिष्ट है। प्रत्येक शब्द ने अर्थ विशेष पर अपना अधिकार-सा कर लिया है। उससे उतना ही अर्थ निकलता है, न कम न अधिक। अर्थ पर ध्यान न देकर शब्दों का अनिर्बन्धता-पूर्वक प्रयोग करने से प्रबन्ध में विशृंखलता आ

जाती है। यदि कोई कहे कि अमुक कवि का अमुक काव्य सर्वोत्तम है। और, फिर, कुछ दूर आगे चलकर, वही उस कवि के किसी काव्य के विषय में भी कहने लगे कि वह भी सर्वोत्तम है, या उसकी बराबरी का काव्य किसी भाषा में है ही नहीं, तो उसकी कौन-सी बात मानी जाय—पहली या दूसरी?" (पृ० २११-१२)। निश्चय ही इन पंक्तियों में हम द्विवेदीजी के पूव ही उल्लेख किये गये व्यक्तितत्व का आभास पाते हैं। दोनों में सिर्फ यही अन्तर है कि पहला यदि हृदय का स्पर्श करता है; तो दूसरा बुद्धि को उत्तेजित करना चाहता है अन्यथा दोनों का स्वरूप प्रभविष्णुतावादी है। इसका वाक्य-विन्यास :करीब-करीब "वाग्विलास" की 'अनस्थिरता' शीर्षक आलोचना के ढाँचे पर ही हुआ है, जो नीचे तुलनीय है—"लेखकों ने इस पुस्तक में 'उत्तम' शब्द का बेहद व्यय किया है-—व्यय क्या अपव्यय कहना चाहिए। किसी-किसी पृष्ठ पर तो वह तीन-तीन चार-चार दफे आ गया है।" (पृ० २१३)। "मुग्धा की बात ही और है; मध्या और प्रौढ़ा उसकी बराबरी भी तो नहीं कर सकती। आपकी राय में देव अधिक नहीं, थोड़े निर्ल्लज जरूर हैं, और चोरी भी करते हैं; पर औरों की इतनी नहीं। अच्छा तो, फिर, जिसके काव्य में ऐसे-ऐसे दोष हों वह महाकवि कैसे माना जा सकेगा? जिसे आप कविरत्न की पदवी दे रहे हैं उसका कुछ तो आदर करना था। उसके विषय में चोरी और निर्ल्लजता आदि कठोर शब्दों का प्रयोग आपको करना उचित नहीं।" (पृ० २२६) व्यंग्य का यह समाँ अन्त तक एक-सा बना रहता है। इसे निरुपद्रव हास्य नहीं कह सकते क्योंकि इसमें मधुमिश्रित तिक्त रस का स्वाद है जो कि क्रमशः बनती-बिगड़ती रहता है पर अपना प्रभाव नहीं

छोड़ता। चाटुकारिता, स्पष्टवादिता, प्रगल्भता तथा उप-देशात्मकता आदि इनकी शैली के विशेष कौशल बारी-बारी से इनके इस निबंध में प्रकट एवं लुप्त होते रहते हैं। संगीत के क्षेत्र में इसे यों समझना चाहिए जैसे कि पंचम के बाद गंधार, उसके पश्चात् निषाद तथा उसके उपरांत षड्ज के अवरोह-आरोह-अवरोह की योजना हो! फलतः शैलीगत कृत्रिमता के इस वक्र चक्र में पड़कर कभी-कभी पाठकों को आपके शुद्ध अभिप्राय में भी सन्देह होने लगता है। उदाहरण के लिए—"इस पुस्तक के गुणों का उल्लेख समष्टि रूप से लेखारम्भ में हम कर आये हैं। यहाँ पर हम फिर भी कहते है कि यह पुस्तक उपादेय है, जिसे लिखकर लेखक महोदय ने हिन्दी-साहित्य की जो सेवा की है, तदर्थ वे प्रशंसा के पात्र हैं। गुणों की अपेक्षा दोषों को विशेष विस्तार से दिखाने का कारण यह है कि—"अपनी रचना की त्रुटियाँ किसी को जान ही नहीं पड़तीं। यह इस पुस्तक के लेखकों ही की राय है "प्रभृति। यह क्षमायाचना ही द्विवेदीजी के व्यक्तित्व की विशेषता है, उनके ब्राह्मण-हृदय की विशालता है। यह कोई वणिग्वृत्ति नहीं। पाषण्ड और प्रवंचना से द्विवेदीजी कोसों दूर थे। इसीलिए उनकी आलोचनात्मक शैली में जो व्यंग्य का पुट पाया जाता है वह उनके मानवोचित हृदय की विनोदप्रिय उदारता का परिचायक है। दूसरे शब्दों में यह व्यंग्य—श्लेष तथा विरोधाभासों से समन्वित होकर—अब उनकी शैली का विशिष्ट अंग बन गया है जिसके कदापि उपयोग के लिए उन्हें कतई प्रयास नहीं करना पड़ता। उसकी कटुता शनैः शनैः मिटती जाती है और उर्दू भाषा की कलाबाजियाँ, चुलबुलाहट तथा छेड़छाड़ से आक्रांत इनकी भाषा क्रमशः मुक्त होती गयी है।

"कालिदास और उनकी कविता "में (जिसे शुक्लजी एक मुहल्ले में फैली बातों से दुसरे मुहल्ले वालों की जानकरी का जरिया मानते हैं। द्विवेदीजी ने आलोचना के सिद्धांत पर एक परामर्श दिया है, जो यों है—"जिसके कार्य्य या ग्रंथ की समालोचना करनी है उसके विषय में समालोचक के हृदय में अत्यंत सहानुभूति का होना बहुत आवश्यक है। लेखक, कवि या ग्रंथकार के हृदय में घुसकर समालोचक को उसके हरएक परदे का पता लगाना चाहिए। अमुक उक्ति लिखते समय कवि के हृदय की क्या अवस्था थी, उसका आशय क्या था, किस भाव को प्रधानता देने के लिए उसने वह उक्ति कही थी—यह जब तक समालोचक को न मालूम होगा तब तक वह उस उक्ति की ठीक समालोचना कभी न कर सकेगा। किसी वस्तु या विषय के सब अंशों पर अच्छी तरह विचार करने का नाम समालोचना है। वह तब तक संभव नहीं जब तक कवि और समालोचक के हृदयों में कुछ देर के लिए एकतानता स्थापित न हो जाय।" अनेक समयोपरांत ही उनकी आलोचनात्मक शैली में इस आदर्श का निर्वाह हो सका है। लेकिन तब तक उनकी यह शैली गवेषणात्मक शैली की कोटि में पदार्पण कर चुकी थी। इसमें शब्दों का चयन प्रांजल ढंग से, वाक्यों का निर्माण तार्किक आधार पर तथा विचारों का विकास मनोवैज्ञानिक रूप में हुआ है। कहीं भी क्लिष्ट शब्द का व्यवहार निरर्थक वाग्जाल का विस्तार तथा उलझे हुए विचारों का प्रकाशन नहीं मिलता—इसमें सर्वत्र भाषा-शैली का गंभीर एवं अजस्र धाराप्रवाह है। इनकी गवेषणात्मक शैली बनावटी या गढ़ी हुई नहीं है, जिसकी ओर डॉ० जगन्नाथ प्र० शर्मा ने संकेत किया है। उनकी इस विशेष शैली की शोभा उनकी

पुस्तक "५ साहित्य-सीकर" के कुछ लेखों, जैसे, 'वेद' 'पुराने अंग्रेज अधिकारियों के संस्कृत पढ़ने का फल' तथा मौलिकता का, मूल्य आदि में दीख पड़ती है। ❀ व्याकरण सम्बन्धी लेखों में उनकी शैली के कुछ वे ही प्रचलित दोष परिलक्षित होते हैं, जिनकी ओर हमारा ध्यान पहले आकृष्ट हुआ था। पर उनके "अतीत स्मृति" नामक ग्रंथ में उनकी यह सुन्दर शैली मानों निखर गयी है। "हिन्दू शब्द की व्युत्पत्ति" शीर्षक निबन्ध पढ़िये— "इस विवेचना से सिद्ध हुआ कि हिन्दू-शब्द का अर्थ है—विक्रमशाली, प्रभावशाली आदि"। सुप्रसिद्ध फरासीसी लेखक जाकोलियेत (Jaquliettee) ने अपने एक ग्रंथ में लिखा है—" असाधारण बल और असाधारण विद्वत्ता के कारण पूर्वकाल में भारतवर्ष पृथ्वी की सारी जातियों का आदर पात्र था।" जिस हिन्दू-जाति की साधुता, वीरता, विद्या, विभव और स्वाधीनता आदि देखकर पारसी, यहूदी, ग्रीक और रोमन लोग मोहित हो गये और मुसलमान इतिहास-लेखकों ने जिस देश को स्वर्ग-भूमि कहकर उल्लेख किया, क्या उसी देश के रहने वाले काफिर, काले, गुलाम, कदाकार और परस्वापहारी कहे जा सकते हैं?

"ज्ञान-सागर की थाह नहीं; उसकी इयत्ता नहीं। अल्पज्ञ मनुष्य अपने आप बहुत ही थोड़ी ज्ञान-प्राप्ति कर सकता है। ज्ञान की अधिकांश प्राप्ति उसे अपने पूर्ववर्ती विद्वानों के द्वारा वितरित ज्ञान ही से होती है। इस दशा में जो लोग पूर्वसंचित ज्ञान से लाभ उठाते हैं और उससे दूसरों को लाभान्वित करने की चेष्टा करते हैं उसका यह कार्य्य यदि स्तुत्य नहीं तो निन्द्य भी नहीं कहा जा सकता। (सा० सि०—निवेदन—पृ० १-२)।

यह बात क्या कभी विश्वास-योग्य मानी जा सकती है? हिन्दू शब्द कदर्थ-बोधक नहीं। हिन्दू-शब्द गौरव, गरिमा, विक्रम और वीरत्व का व्यञ्जक है। तो कहिये, क्या आप अब हिन्दू-नाम छोड़ना चाहते हैं?" द्विवेदीजी की इस शैली में हम उनकी शैली की सारी विभूतियों को केन्द्री-भूत पाते हैं। बाबू साहब ने उनकी शैली के विषय में जो यह लिखा है—" विषय का स्पष्टीकरण करने के आशय से द्विवेदीजी जो पुनरुक्तियाँ चाहते हैं, वे कभी-कभी खाली चली जाती हैं—असर नहीं करतीं, परन्तु वे फिर आती हैं और असर करती हैं। लघुता उनकी विभूति है।" वह सोलहो आने सार्थक है क्योंकि इसमें हम देखते हैं कि वे बार-बार वाक्यों की आवृत्ति अनेक रूपों में तथा शब्दों का प्रयोग पर्यायवाची अर्थों में इसलिए करते हैं जिससे कि उनका अन्ततोगत्वा प्रभाव पड़े ही भले ही वह प्रत्यक्ष एवं तत्क्षण न हो पर परोक्ष एवं स्थायी अवश्य हो! हाँ, "सोमलता" शीर्षक निबंध में उनकी शैली के सभी गुण पराकाष्ठा पर पहुँच गये हैं, जो दर्शनीय है—"पुरातत्त्व-विद्वानों का मत है कि शुरु में आर्य लोग हरी सोमलता को कूटकर रस निचोड़ लेते थे। या यदि हरी लता न मिलती थी तो पर्वतीय आदमियों से सूखी लता लेकर उसे पानी में भिगो देते थे। फिर उसे मलकर छान लेते थे। बाद में दूध और शहद मिलाकर उसे कुछ काल रक्खा रहने देते थे। इससे वह रस कुछ नशीला हो जाता था।" तक्षशिला की कुछ प्राचीन इमारतों में यही शैली अत्यंत प्रौढ़ एवं परिमार्जित दशा में विकासोन्मुख प्रतीत होती है! उसमें विशेषणों एवं वाक्यांशों के प्रयोग में ऐसी कृत्रिम प्रवृत्ति—'पर्वतीय आदमियों' तथा

'रक्खा रहने देते'—की कहीं झलक नहीं मिलती। देखिये—"यहाँ के अनेक महल, मन्दिर, स्तूप और गढ़ आदि तो काल खा गया। पर इस विनाश के विषय में विशेष शोक करने की जरूरत नहीं, क्योंकि जीर्ण होने पर सभी वस्तुओं का नाश अवश्यम्भावी है। परन्तु जो इमारतें धर्मान्धों और बर्बर विदेशियों ने धर्मान्धता अथवा उत्पीड़न की प्रेरणा से ही नष्ट कर दीं उनके असमय नाश का विचार करके अवश्य शोक होता है। प्राचीन काल में तक्षशिला नामक नगरी बड़ी उन्नत अवस्था में थी। वह लक्ष्मी की लीला-भूमि थी। वह विद्वानों का विहार-स्थल थी। बड़े-बड़े प्रतापी नरेशों का का प्रभुता-निकेतन थी। उसका आयतन बहुत विस्तृत था। कई नये-नये नगर वहाँ बस गये थे। कई पुराने नगर उजड़ गये थे। चिह्नों से जान पड़ता है कि ईसा के पाँचवें शतक तक तक्षशिला नगरी विद्यमान थी। तब तक भी वहाँ अभ्रंकष प्रासाद, स्तूप, विहार आदि उसके वैभव की घोषणा उच्च स्वर से कर रहे थे। अकस्मात् उस पर हूणों ने चढ़ाई कर दी। विजयी हूणों ने उन्हें खूब लूटा। पर इतने से भी उनकी तृप्ति न हुई। उन्होंने उसे जलाकर खाक ही कर दिया। जो अंश खाक हो जाने से बचा वह उजड़ गया। उस पर जंगल उग आया। धीरे-धीरे भग्नांश पृथ्वी के पेट के भीतर दब गये।" इस अनुच्छेद में हम पुरातत्त्व-जैसे गंभीर विषय का उद्‌घाटन बोलचाल की भाषा में होता हुआ पाते हैं। ऐसा कहीं भी ज्ञात नहीं होता कि लेखक एक लेख लिखने की तैयारी कर रहा है और सो भी वक्तृत्तापूर्ण—इसमें तो उसकी भाषा स्वाभाविक रूप में आरम्भ से अंत तक विकसित होती चली गयी है। द्विवेदीजी की इसी व्यास शैली

में उनका व्यक्तित्व निहित है क्योंकि इसी में उनकी सरलता, सादगी आदि का पूर्ण अभिव्यंजन हो सका है। इसमें न तो हम उनके उस क्षात्र धर्म का परिचय पाते हैं जिसका आश्रय लेकर वे विरोधियों पर निर्मम प्रहार करते हैं तथा अपने व्यंग्य बाणों से उन्हें मर्माहत कर डालते हैं और न तो उस वणिग्-वृत्ति का ही आभास पाते हैं जिसकी शरण में जाकर वे अपनी सम्मोहक शैली की आड़ से ग्राहकों को आखेट करते हैं एवं पाठकों को एक क्षण के लिए आत्म-विस्मृत कर अपना प्रशंसक बना लेते हैं।

'तक्षशिला,' 'हिन्दी नवरत्न' आदि निबन्ध यद्यपि 'गोपियों की भगवद्भक्ति' के लिखे जाने के बहुत वर्ष पूर्व ही लिखे गये थे तो भी, जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, इस प्रौढ़ रचना में हमें द्विवेदीजीकी सर्वोत्कृष्ट शैली का उन्मेष नहीं मिलता। क्या कारण है कि उनकी मध्यकालीन रचनाओं में ही उनका व्यक्तित्व प्रस्फुटित होता-सा प्रतीत होता है? उनकी प्रौढ़ कृतियाँ क्या इससे वंचित हैं? "साहित्यालाप" का अन्तिम निबंध 'आजकल के छायावादी कवि और कविता' उप-युक्त निबंध के बाद की रचना है किन्तु इसकी भी शैली व्यंग्यात्मक ही है। हम जानते हैं कि इनकी व्यंग्यात्मक शैली में इनका व्यक्तित्व निहित नहीं। इस लेख में आपने छायावादी कवियों पर कटाक्ष करते हुए लिखा है कि "पर रवि बाबू की गोपनशील कविता ने हिन्दी के कुछ युवक कवियों के दिमाग में कुछ ऐसी हरकत पैदा कर दी है कि वे असम्भव को सम्भव कर दिखाने की चेष्टा में अपने श्रम, समय और शक्ति का व्यर्थ ही अपव्यय कर

रहे हैं। जो काम रवीन्द्रनाथ ने चालीस पचास वर्ष के सतत अभ्यास और निदिध्यास की कृपा से कर दिखाया है उसे वे स्कूल छोड़ते ही, कमर कसकर दिखाने के लिए उतावले हो रहे हैं। × × × एक बात और भी है। यदि ये लोग अपने ही लिए कविता करते हैं तो अपनी कविताओं का प्रकाशन क्यों करते हैं? प्रकाशन भी कैसा? मनोहर टाइप में, बहु-मूल्य कागज पर। अनोखे-अनोखे चित्रों से सुसज्जित। टेढ़ी-मेढ़ी और ऊँची-नीची पंक्तियों में, रङ्ग-विरङ्गे बेल-बूटों से अलङ्कृत। यह इतना ठाठ-बाट—या इतना आडम्बर—दूसरों ही को रिझाने के लिए हो सकता है, अपनी आत्मा की तृप्ति के लिए नहीं। × × × × × आजकल के कुछ कवि कवि-कर्म में कुशलता-प्राप्ति की चेष्टा तो कम करते हैं, आडम्बर-रचना की बहुत। शुद्ध लिखना तक सीखने के पहले ही वे कवि बन जाते हैं और अनोखे-अनोखे उपनामों की लाङ्गूल लगाकर अनाप-शनाप लिखने लगते हैं। वे कमल, विमल, यमल और अरविन्द, मिलिन्द, मकरन्द आदि उपनाम धारण करके अखबारों और सामयिक पुस्तकों का कलेवर भरना आरम्भ कर देते हैं।" अतः हम उनकी इस व्यंग्य-प्रधान शैली को आलोचनात्मक तो नहीं ही कह सकते क्योंकि इसमें उत्कृष्ट कविता के जिस आदर्श अर्थात् मापदण्ड का उल्लेख हुआ है और जिसके आधार पर यह आलोचना प्रस्तुत की गयी है, वह उनके चौदह वर्ष पहले के निबंधों से रंचमात्र भी आगे नहीं। देखिये, "कवित्व शक्ति किसी विरले ही भाग्य-वान् को प्राप्त होती है। यह शक्ति बड़ी दुर्लभ है। कवि यशोलिप्सुओं के लिए कुछ साधनों के आश्रय की आवश्यकता होती है। ये साधन अनेक हैं। उनमें से मुख्य तीन हैं—

प्रतिभा (अर्थात् कवित्व-बीज) अध्ययन और अभ्यास, इनमें से किसी एक और कभी-कभी किसी दो की कमी होने से मनुष्य कविता कर सकता है। परन्तु प्रतिभा का होना परमावश्यक है। बिना उसके कोई मनुष्य अच्छा कवि नहीं हो सकता। महाकवि क्षेमेन्द्र ने अपनी पुस्तक–कविकण्ठाभरण–में, थोड़े ही में, इस विषय का अच्छा विवेचन किया है।" निःसन्देह यह शैली आदेशात्मक है क्योंकि उनके "रसज्ञ-रंजन" के प्रसिद्ध निबंधों जैसे, 'कवि बनने के लिए सापेक्ष-साधन' तथा 'कवि और कविता' में उपर्युक्त विचारों का प्रतिपादन एवं इसी शैली का समावेश हुआ है। उदाहरणतः—

"क्षेमेन्द्र कवि ने 'कवि-कण्ठाभरण' नामक एक छोटा-सा ग्रंथ लिखा है। उसमें आपने बताया कि किन साधनों से मनुष्य कवि हो सकता है और किस तरह उसकी तुकबन्दी कविता कहलायी जाने योग्य हो सकती है। क्षेमेन्द्र खुद भी महाकवि था। अतएव उसके बताए हुए साधन अवश्य ही बड़े महत्त्व के होने चाहिए। यही समझकर हम अपने हिन्दी के कवियों के जानने केलिए क्षेमेन्द्र के निर्दिष्ट साधनों का थोड़े में उल्लेख करते हैं। कवि होने के लिए पाँच बातें अपेक्षित हैं। वे पाँच बातें ये हैं— (१) कवित्व-शक्ति, (२) शिक्षा, (३) चमत्कारोत्पादन, (४) गुणदोष-ज्ञान, (५) परिचय-चारुता।" × × × ×

"अर्थात् स्वाभाविकी प्रतिभा अर्थात् शक्ति (१) शब्द-शास्त्रादि तथा लोकाचारादि का विशुद्ध ज्ञान (२) और प्रगाढ़ अभ्यास (३) यह सब मिलकर काव्य-रूप सम्पत्ति का कारण।.............अर्थात् प्रतिभाशक्ति, काव्यादि शास्त्र तथा लोकाचारादि के अवलोकन से प्राप्त हुई निपुणता और

काव्यों की शिक्षा के अनुसार अभ्यास, ये तीनों बातें कविता के उद्भव में हेतु हैं।" (८-८ पृ० २६-४६)। "रसज्ञ-रंजन" के निबंधों की यह शैली गवेषणात्मक नहीं अपितु आदेशात्मक है। यह ज्ञानगरिमा से भाराक्रांत है और इसीलिए इसमें 'हिन्दू', 'सोमलता' प्रभृति निबंधों की शैली-जैसा मुक्त प्रवाह नहीं और न इसमें द्विवेदीजी का वह व्यक्तित्व ही है जो स्वच्छ मेघराशि के समान सबों की कल्याण-कामना करता है। उनकी "कविता," "प्रतिभा" आदि निबंध कान्तासम्मित तथा आदेशों के नमूने नहीं क्योंकि इनमें एक ही प्रकार के वाक्यों की आवृत्ति बार-बार होती है, जो एकरसता उत्पन्न करती है तथा स्पष्टता-जैसे गुण को प्रभाव हीनता-ऐसे दोष में परिणत कर देती है। × उनके "साहित्य-संदर्भ' के स्वतंत्र निबंधों में इन दोषों का थोड़ा-बहुत सुधार हुआ है। 'उपन्यास-रहस्य' का एक संदर्भ देखिये—"घटना-विस्तार और चरित्र-चित्रण करने में मानस-शास्त्र का आधार जरूर लेना चाहिए। पर उतना ही जितने से मानवीय मन की स्वाभाविक गतियों को गर्त में गिराने से बचाव हो सके। मनोभावों के कुछ स्थूल नियम हैं—भय उपस्थित देख भीत होना, इष्ट-नाश से दुःखित होना, आदि। इन नियमों का अतिक्रमण न करना चाहिए। कोई ऐसी बात न कहना और किसी ऐसी घटना का निर्माण करना चाहिए जिससे मनुष्य मनुष्य ही न रहे। वह पशु, देव या दानव

× द्विवेदीजी की "आलोचनाञ्जलि" नामक पुस्तक की आलोचनाएँ भी, जैसे, 'शकुन्तला' आदि उनकी पुरातन समीक्षापद्धति के पृष्ठपोषण मात्र हैं, जिनकी मान्यताओं में अब तक उनका अटूट विश्वास था।

आदि हो जाय। बस। फिर, दूसरे के मनोगत भावों की विवृति करते समय अपने ही मन को उसके मन के स्थान पर न बिठा देना चाहिए।" (सा० स०, पृ० १६८-६)।

प्रेमनारायण टंडन के इस कथन—"लगभग २० वर्ष द्विवेदी-जी 'सरस्वती' के सम्पादक रहे और अन्त तक परिस्थिति में बहुत अधिक परिवर्तन नहीं हुआ। यही कारण है कि प्रायः प्रत्येक मास की 'सरस्वती' में उक्त तीनों शैलियों के नमूने मिल जाते हैं।" से हम बहुत कुछ अंशों में सहमत हैं; परन्तु यह कहना कि उनकी शैलियों पर काल का कोई प्रभाव नहीं पड़ा यानी अपने मध्यकाल से लेकर अन्तिम काल तक वे एक-सी बनी रहीं, ठीक नहीं मालूम पड़ता। उनके 'छायावादी कवि और कविता' शीर्षक आलोचना सम्बन्धी निबंध का जब हम ऊपर ही ऊपर अध्ययन करते हैं तथा उसकी तह में जाने की चेष्टा नहीं करते तब टंडनजी का कथन सत्य प्रतीत होता है लेकिन जब हम इसकी शैली का गम्भीरता एवं सूक्ष्मता-पूर्वक निरीक्षण करते हैं तब यह उपयुक्त नहीं ज्ञात होता क्योंकि हम स्पष्ट रूप से देखते हैं कि अब वे अपने विचारों को कम से कम पर उपयुक्त शब्दों में व्यक्त करते हैं, उन्होंने व्यंग्य के क्षेत्र में मानों तत्सम, तद्भव एवं देशज का बखेड़ा उठा दिया है, उनके वाक्यों की बनावट व्याकरण के नियमों में जकड़ी हुई नहीं है, जैसे, कहीं क्रिया गायब है तो कहीं संज्ञा; कहीं वाक्य अधूरा है तो कहीं वह पूरा। यदि वे दूसरों पर आक्षेप करते हैं तो अब उपहासात्मक ढंग से नहीं बल्कि श्लेषात्मक रीति को अपनाते हुए परिष्कृत तरीके से अपनाते हुए। यह लेख छद्मनाम से लिखा गया था, फिर भी द्विवेदीजी का वह निजत्व इसमें निहित है, जो छिपाये नहीं छिप सका। यही है उनकी

शैली का वह व्यक्तित्व, जो उनके निबंधों की निधि है।

डॉ० श्रीकृष्ण लाल ने "संचयन" की भूमिका में द्विवेदीजी के निबन्धों पर निम्नलिखित विचार प्रकट किया है—'द्विवेदीजी के निबन्ध उनके विस्तृत अध्ययन के द्योतक हैं। प्रतिपाद्य विषयों की विविधता और व्यापकता के साथ लिखने की सरल और आकर्षक शैली, समझाने का सहज घरेलू ढंग और भाषा की बोधगम्यता देखकर सहसा दंग रह जाना पड़ता है। वैज्ञानिक, दार्शनिक, सामाजिक, आर्थिक, शिक्षा-सम्बन्धी, साहित्यिक, भाषा और कला सम्बन्धी सभी प्रकार के गम्भीर और सामान्य, साधारण और असाधारण, सैद्धांतिक और व्यावहारिक विषयों पर उनकी लेखनी समान रूप से चलती रही है। कभी वे आत्मा और परमात्मा, सांख्य और योग, कुंडलिनी और पुनर्जन्म जैसे गम्भीर विषयों पर इस ढंग से लिखते हैं कि साधारण से साधारण पाठक भी उसे भली प्रकार हृदयंगम कर सके और कभी क्रोध और लोभ जैसे साधारण विषयों पर भी इस अधिकार से लिखते हैं कि विद्वान् व्यक्ति भी उससे कुछ सीख सके। इन निबन्धों में मौलिक चिन्तन और मनन की सामग्री चाहे कम हो, परन्तु विस्तृत अध्ययन और सभी बातें जानने और समझने की जिज्ञासा और प्रयत्न का अभाव कभी नहीं रहता। × × × × × उनके लेख ऐसे नहीं थे जो द्विवेदीजी की साहित्यिक कीर्ति का प्रसार करते, वरन् उनमें हिन्दी पाठकों के ज्ञान-विस्तार की अद्भुत क्षमता थी। अपनी साहित्यिक कीर्ति की हानि उठाकर भी द्विवेदीजी ने हिन्दी पाठकों का हित किया, 'हिन्दी भाषा और साहित्य को अद्भुत क्षमता प्रदान की। वस्तुतः, द्विवेदीजी हिन्दी के यशस्वी निबन्धकार ही न थे, हिन्दी को यश प्रदान कराने वाले, हिन्दी

की शक्ति बढ़ाने वाले निबन्धकार थे,। इन पंक्तियों से यह स्पष्ट हो जाता है, कि डॉ० लाल ने वर्मा-द्वय, दास-द्वय, मिश्र तथा शुक्लजी के निष्कर्षों के बीच एक मध्य का मार्ग निकालते हुए समझौता स्थापित कराने का उद्योग किया है। यह प्रयास प्रशंसनीय है और साथ ही उनकी अंतिम पंक्ति विचारणीय है।

सच तो यह है कि किसी भी साहित्य के गद्य का मुख्य उद्देश्य या धर्म पारिभाषिक अर्थात् सीमित अर्थ में शुद्ध साहित्य की सेवा ही नहीं है। दैनिक जीवन के व्यावहारिक पक्षों की पुष्टि एवं उनकी सभी प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्त्ति तथा सामान्य और विशेष विचारों के आदान-प्रदान आदि का एक मात्र माध्यम गद्य ही हुआ करता है। अतः दास-द्वय की गद्यविषयक धारणा के यथार्थ आदर्श द्विवेदीजी ही हैं--इसमें कोई संदेह नहीं। यज्ञदत्त शुक्ल ने भी "द्विवेदी अभिनन्दन ग्रंथ" की अंतिम श्रद्धांजलि में उनकी भाषा की ग्राहिका शक्ति तथा वागाडंबरहीन प्रवृत्ति पर, उपर्युक्त अभिप्राय को ध्यान में रख कर ही, अपना उद्गार व्यक्त किया है। द्विवेदीजी यह साफ तौर पर जानते थे कि विचारशक्ति तथा भौतिक आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति गद्य की सरल भाषा द्वारा ही हो सकती है और भावों तथा तात्विक अनुभूतियों का अभिव्यंजन पद्य की छंदो-बद्ध भाषा द्वारा ही संभव है। इसीलिए उन्होंने पद्य के क्षेत्र में खड़ी बोली के विकास का पथ प्रशस्त करना चाहा ताकि गद्य-पद्य का अंतर नियत रहे और दोनों के बीच का चित्रमय विधान न टले। सो, वर्मा-द्वय के संकेतों से भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए क्योंकि वास्तव में उनसे उनका वही तात्पर्य था जिसकी ओर रामबहोरी शुक्ल ने "द्वि० अ० ग्र०" में हम लोगों का ध्यान

ःर्षित किया है—"जैसे हिन्दी-गद्य को भारतव्यापक बनाना आवश्यक था, वैसे ही उसके पद्य को भी अन्य प्रांतवालों के लिए बोधगम्य बनाना उचित जान पड़ा।" यदि इसके विपरीत बात होती तो 'प्रसादजी' को "हिन्दी कविता में भाव और भाषा दोनों की दृष्टि से नवीन मार्ग ग्रहण करने की 'सुविधा नहीं मिलती और न उनकी कविता' द्विवेदीजी के प्रभाव से नितांत मुक्त रहती" तथा वे घनानन्द के पुरातन काव्य-विधानों को ग्रहण की उन्हें छूट दी जाती। ऐसी दशा में वे एक सर्वेसर्वा के समान उनकी स्वतंत्रता का बलात् अपहरण कर लेते। इसीसे हम कहते हैं कि द्विवेदीजी के व्यक्तित्व-निर्माण का क्षेत्र काव्य नहीं प्रत्युत् गद्य था और वह भी साहित्यिक गद्य नहीं वरन् व्यावहारिक एवं प्रचलित। वह ऐसे गद्य का निर्माण कर रहे थे जो न तो फ्रेंच गद्य की भाँति नित्य नये-नये साहित्यिक वाद-विवादों के प्रवर्तन-विवर्तन के चक्कर में पड़ने को वाध्य हो और न अंग्रेजी गद्य के समान स्वतंत्र भारत को भी व्यापार के उत्तरोत्तर प्रसाद एवं एकाधि-कार की भ्रांति द्वारा साम्राज्यवाद के विस्तार का प्रलोभन देकर उसके विकास को संक्रामक तथा रुद्ध कर दे। इसीसे उनके गद्य में प्रो० बेरिन्निकोव को एक ऐसी आशा का संदेश मिला है, जो विदेशियों को हिन्दी साहित्य की समस्त प्रगति से परिचित कराने का बीड़ा उठाता-सा ज्ञात होता है। हिन्दी में नवीन ऐहिक रूपाकृतियों की आकर्षक आवृत्ति का वह आग्रह नहीं है, जो विदेशियों को प्रिय है। श्री ग्रीब्स को द्विवेदीजी के गद्य में इसी अभाव की पूर्त्ति के लक्षण मिलते हैं। तो क्या कारण है कि उनके अपूर्व अध्यवसाय एवं उनकी सतत सेवा को स्वीकार करके भी हम दासद्वय के

शब्दों में देख रहे हैं कि वह सरल, शुभ्र आदर्श और वह प्रांजल व्यवस्था आज एक व्यापक अविश्वास और शक्तिपूर्ण अराजकता में विलीन-सी हो रही है। साहित्य का कोई मार्ग नहीं रह गया—चतुर्दिक् आक्रांति की सूचना मिल रही है। आधुनिक मस्तिष्क किसी एक दिशा में काम करने को तैयार नहीं, सब दिशाएँ छान डालने का उद्योग करता है। कोई कह नहीं सकता कि विचारों के क्षेत्र में विस्तार हो रहा है या विशृंखलता बढ़ रही है! (बहुत-से दुर्बल मस्तिष्क, क्षीणबुद्धि व्यक्तियों के बीच थोड़े-से सच्चे विचारवान् साहित्य-सेवी भी नवीन उत्थान का साथ दे रहे हैं)।" अतः इसपर विचार करना आवश्यक है।

यदि उनकी शैली आदर्श है, तो निश्चय ही वह अनुकरणीय है; लेकिन आज सर्वत्र उसकी उपेक्षा हो रही है। उसकी उपेक्षा के कुछ-कुछ वे ही कारण आज प्रत्यक्ष हो रहे हैं, जो तुलसी के काव्य और उनकी भाषा की उपेक्षा के कारण रीति-काल में प्रकट हुए थे। इसलिए यदि उनकी शैली के बारे में यह कहा जाय कि वह वास्तव में "आश्चर्य और अननुगम्य है, उन्हें न कोई छू सकता है और न कोई उनके पास तक फटक सकता है। अपनी अनूठी विशिष्टता से वे सर्वथा अकेले और निराले हैं। अपने समय के वे एकछत्र राजा थे।" तो अवश्य ही यह इस स्वतंत्र जनयुग में अशोभन लगेगा। वेंकटेशनारायण तिवारी ने जो यह लिखा है कि" द्विवेदीजी की टक्कर का कोई साहित्यिक संसार में अगर कोई महारथी दूसरा है, तो वह डॉक्टर जॉनसन ही है। ....डॉक्टर जॉनसन ने अपनी कृतियों से उतना नहीं, जितना अपने प्रभावशाली व्यक्तित्व के द्वारा अंग्रेजी साहित्य के विकास की गति और क्रम को

प्रभावित किया है। ......डॉक्टर जॉनसन की तरह उन्होंने हिन्दी गद्य के व्यवस्थित विकास में अन्यतम भाग लिया है। इस दृष्टि से द्विवेदीजी हिन्दी गद्य के यदि सृष्टा या निर्माता नहीं है; तो उसके सबसे बड़े विधायक अवश्य हैं। दोनों ही अपने-अपने समय के अद्वितीय समालोचक हुए हैं।...... ......डॉक्टर जॉनसन ही की तरह द्विवेदीजी में मैत्री का अपूर्व गुण है।" हम इस कथन के प्रति अपना दृढ़ विश्वास प्रकट करते हैं तथा पन्नालाल बख्शी ने जो उसकी उपमा मेघमाला से दी है, वह सर्वथा उनके उपयुक्त है, इसका भी हम समर्थन करते हैं।

उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखते हुए हमें इस निर्णय पर पहुँचना परमावश्यक-सा प्रतीत होता है कि विदेशियों की दृष्टि में उनकी पुरातत्त्वपरक गवेषणात्मक शैली ही महत्त्वपूर्ण है। पर यह निश्चित है कि वे इसी शैली को लेकर यशस्वी नहीं बन सकते क्योंकि यहाँ उनका व्यक्तित्व अपने निजत्व की रक्षा कर रहा है तथा इसमें उनके लेखक की मुद्रा अंकित है, जिसकी छाप हिन्दी संसार से क्रमशः मिटती जा रही है। अतएव जिस शैली में उनका निजत्व स्वान्तः सुखाय अस्तित्वहीन हो जाना चाहता है वही उनकी एकमात्र विशिष्ट शैली है और वहीं ढूँढ़ने वाले को विश्वसौन्दर्य में लीन उनके व्यक्तित्व का पुनीत दर्शन होता है। उनकी इसी शैली की ओर इंगित करते हुए पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने कहा था कि उनकी वह

अनुपम शैली उनके पत्रों में ही मिल सकती है। * वहाँ पर न लेखक-पाठक में कोई दुराव-छिपाव है, जहाँ पर दोनों अभिन्न हैं तथा उनके मध्य न कोई कटु आलोचना-प्रत्यालोचना है। वहीं पर वे अपने विचारों को बोलचाल की भाषा में अपने मित्रों के निकट धीरे-धीरे, किसी प्रयत्न-वैचित्र्य के विना ही, अनायास उपस्थित करते हैं। यद्यपि कुछ आलोचक लेखक के जीवन को उनकी कृतियों से अलग रखना चाहते हैं तो भी द्विवेदीजी का चरित्रबल ही, जिसकी झलक उनके पत्रों में तथा अन्यत्र भी मिलती है, उनकी गद्यशैली के प्रभाव को अनेक युगों तक अक्षुण्ण रखेगा और वह स्वतंत्र भारत तक ही सीमित नहीं रहेगा वरन् एक दिन उसे सम्पूर्ण विश्व वरण करेगा। जो काम स्प्रांटो-जैसी भाषा, सेंटपीटर्स वर्ग की संस्था तथा जेम्स ब्राइस की सतत चेष्टा नहीं सम्पादित कर सकी वही किसी दिन द्विवेदीजी की शैली सम्पन्न कर दिखायेगी।

पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार जिस प्रकार आधुनिक काल की भारतीय प्रवृत्तियों को जानने के लिए आदिकालीन हिन्दी साहित्य का अध्ययन अकेला आधार है उसी प्रकार अत्याधुनिक काल की आकांक्षाओं की जानकारी के लिए

---

* हिन्दी लेखकों की दशा अच्छी नहीं। प्रकाशक उनसे भी बदतर हैं। रद्दी कहानियाँ ये लोग दौड़-दौड़ छापते हैं। मेरे फुटकर लेखों की कोई ३२ पुस्तकें हुईं। बाबू शिवप्रसाद गुप्त ने सब की नकल करा दी। उनमें से कोई दस पुस्तकें पड़ी हुई हैं। कोई पूछता ही नहीं। ऐसे लोगों के लिए आत्मचरित्र लिखकर बेचने की इच्छा नहीं होती। हो भी तो लिखने की शक्ति नहीं।

(आचार्य द्विवेदीजी—ब० दा० चु०)

द्विवेदीजी की शैली का मनन ही एकमात्र सहारा है। उन्हीं के शब्दों में—"किसी ने किसी विषय को कैसे लिखा है अर्थात् उसकी शैली क्या है, यह जानने के पहले यह जानना जरूरी है कि उसने क्या लिखा है। एक समय ऐसा भी था जब लोग 'क्या' की अपेक्षा 'कैसे' को साहित्य में प्रमुख स्थान देते थे।......सच पूछा जाय तो संसार के आधुनिक साहित्य में यह एक अद्भुत-सी बात है कि एक आदमी अपने 'क्या' के बल पर नहीं, बल्कि 'कैसे' के बल पर साहित्य का स्रष्टा हो जाय। ....साहित्य के जगत् में यह एक असाधारण व्यापार है।" सच तो यह है कि उनकी साधारण शैली में ही उनकी असाधारण प्रतिभा का परिचय मिलता है, जिसके विषय में स्व०प्रेमचन्द ने निम्नलिखित पंक्तियाँ लिखी हैं—"जहाँ व्यक्तित्व है, वहाँ शैली भी है। शैली भीतर का—आत्मा का बाह्य रूप है। उस शैली में कितना संयम है, कितना प्रसाद है, कितना ओज है, कितना सुलझाव है। उसमें रसिकों का बाँकपन नहीं, पंडितों का गांभीर्य नहीं, ज्ञानियों की शुष्कता नहीं–एक सीधे–सादे उदार व्यक्ति की सजीवता है।" निःसन्देह उनके इन्हीं शब्दों में द्विवेदीजी की शैली का सारा सौन्दर्य भरा पड़ा है, जो अवश्य ही दर्शनीय है, क्योंकि वही हमारी वाणी का सजीव रूप है!